[2012] 6 एस.सी.आर. 369

ए. नवाब जॉन एवं अन्य

बनाम

वी.एन. सुब्रमण्यम

(2012 की दीवानी अपील सं. 4838-4840)

3 जुलाई, 2012

[पी. सतशिवम एवं जे. चेलमेश्वर, न्यायमूर्तिगण]

न्यायालय शुल्क अधिनियम, 1870 : वादपत्र का दाखिला — अपर्याप्त न्यायालय शुल्क — उत्तरदाता का आपत्ति उठाने का अधिकार — अभिनिर्धारित : न्यायालय शुल्क का प्रश्न वादी एवं न्यायालय के मध्य का विषय है — यदि न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि अधीनस्थ न्यायालय में जमा किया गया न्यायालय शुल्क पर्याप्त नहीं है, तो न्यायालय संबंधित पक्षकार को उक्त कमी की पूर्ति करने हेतु निर्देश देगा — विधायिका का आशय यह नहीं था कि वादी द्वारा अपर्याप्त न्यायालय शुल्क जमा किए जाने के कारण प्रतिवादियों को कोई लाभ प्रदान किया जाए — ऐसे मामले में जहाँ वादपत्र विधि द्वारा निर्धारित परिसीमा अवधि के भीतर, किन्तु अपूर्ण न्यायालय शुल्क के साथ दायर किया गया हो और वादी परिसीमा अवधि समाप्त होने के पश्चात् न्यायालय शुल्क की कमी को पूरा करना चाहता हो, वहाँ न्यायालय, यद्यपि दीवानी प्रक्रिया संहिता की धारा 149 के अधीन विवेकाधिकार रखता है, तथापि न्यायालय शुल्क की कमी के विलंबित भुगतान हेतु दिए गए स्पष्टीकरण का सावधानीपूर्वक परीक्षण करेगा, क्योंकि ऐसे विवेकाधिकार का प्रयोग प्रतिवादियों अथवा प्रतिवादियों के माध्यम से दावा करने वाले व्यक्तियों के अधिकारों एवं दायित्वों पर निश्चित रूप से प्रभाव डालेगा — इससे अनिवार्यतः यह निष्कर्ष निकलता है कि दीवानी प्रक्रिया संहिता की धारा 149 वादी के पक्ष में ऐसा निरपेक्ष अधिकार प्रदान नहीं करती कि वह अपनी इच्छानुसार कभी भी न्यायालय शुल्क जमा कर सके — यह केवल वादी को न्यायालय से यह अनुमति प्राप्त करने में सक्षम बनाती है कि वह वादपत्र प्रस्तुत किए जाने के पश्चात् किसी बाद के समय पर न्यायालय शुल्क जमा कर सके — न्यायालय द्वारा विवेकाधिकार का प्रयोग इस बात पर सशर्त है कि न्यायालय इस स्पष्टीकरण से संतुष्ट हो कि परिसीमा अवधि के भीतर न्यायालय शुल्क जमा न करने हेतु वादी ने विधिसम्मत एवं स्वीकार्य कारण प्रस्तुत

किया है — दीवानी प्रक्रिया संहिता, 1908 — धारा 149।

दीवानी प्रक्रिया संहिता, 1908: धारा 149; आदेश 7, नियम 11 - वादपत्र के निरस्तीकरण की प्रार्थना न्यायालय शुल्क की कमी के आधार पर की गई — अभिनिर्धारित : आदेश 7 नियम 11 के अनुसार, अन्य बातों के साथ, वादपत्र को उस स्थिति में निरस्त किया जाना आवश्यक है जहाँ दावा किया गया अनुतोष अल्पमूल्यांकित हो तथा/अथवा वादपत्र ऐसे कागज़ पर लिखा गया हो जिस पर अपर्याप्त मुद्रांक लगा हो, और दोनों ही स्थितियों में वादी निर्धारित समयावधि के भीतर मूल्यांकन में सुधार करने अथवा मुद्रांक पत्र उपलब्ध कराकर अपेक्षित न्यायालय शुल्क का भुगतान करने में विफल रहता हो — तथापि, धारा 149 न्यायालय शुल्क की कमी की पूर्ति करने की शक्ति से संबंधित है — जब धारा 149 ऐसे दस्तावेज़ की बात करती है, जिसके संबंध में न्यायालय शुल्क देय है, तब उसके दायरे में केवल वादपत्र ही नहीं, बल्कि अन्य विविध दस्तावेज़ भी आते हैं, जिनके संबंध में उपयुक्त विधि के अधीन न्यायालय शुल्क देय है, जिसमें वाद में लिखित कथन भी सम्मिलित है — अतः धारा 149 की भाषा से यह निष्कर्ष निकलता है कि जब कोई वादपत्र उस पर देय उपयुक्त न्यायालय शुल्क के भुगतान के बिना न्यायालय में प्रस्तुत किया जाता है, तब निःसंदेह न्यायालय को यह अधिकार है कि वह वादी को आवश्यक न्यायालय शुल्क का भुगतान करने हेतु निर्देशित करे — न्यायालय की ऐसी शक्ति का प्रयोग वाद की किसी भी अवस्था पर किया जा सकता है — अतः समय व्यतीत हो जाने मात्र से न्यायालय की उस शक्ति पर कोई प्रतिबंध नहीं लगता, जिसके द्वारा वह न्यायालय शुल्क की उक्त कमी के भुगतान का निर्देश दे सके — तार्किक परिणामस्वरूप, वादी को भी मात्र समय व्यतीत हो जाने के कारण न्यायालय शुल्क की कमी जमा करने से वंचित नहीं कहा जा सकता — धारा 149 न्यायालय को यह शक्ति प्रदान करती है कि यदि वाद अन्यथा परिसीमा अवधि के भीतर दायर किया गया हो, तो वह वाद दायर करने हेतु निर्धारित परिसीमा अवधि समाप्त हो जाने के पश्चात् भी न्यायालय शुल्क की कमी का भुगतान स्वीकार कर सके — परिसीमा केवल विधि का एक उपबंध है; और विधायिका सामान्य परिसीमा नियमों में सदैव अपवाद निर्धारित कर सकती है, जैसे परिसीमा अधिनियम की धारा 5, जो न्यायालय को अपील आदि दायर करने में हुई देरी को क्षम्य करने का अधिकार प्रदान करती है — परिसीमा अधिनियम — न्यायालय शुल्क अधिनियम, 1870।

संपत्ति अंतरण अधिनियम, 1882 :

धारा 52 — वाद लंबित रहने के दौरान क्रेता द्वारा पक्षकार बनाए जाने हेतु आवेदन

— अभिनिर्धारित : सामान्यतः इसकी अनुमति दी जानी चाहिए अथवा उस पर उदारतापूर्वक विचार किया जाना चाहिए।

धारा 52 — प्रभाव — अभिनिर्धारित : धारा 52 का प्रभाव यह नहीं है कि वाद लंबित रहने के दौरान वाद के किसी पक्षकार द्वारा किए गए अंतरण को शून्य बना दिया जाए, बल्कि उसका प्रभाव केवल इतना है कि ऐसे अंतरण उस वाद के पक्षकारों के अधिकारों के अधीन होंगे, जिनका अंतिम रूप से वाद में निर्धारण किया जाएगा।

तमिलनाडु न्यायालय शुल्क एवं वाद मूल्यांकन अधिनियम, 1955 : धारा 4, 5, 12 — अभिनिर्धारित : ऐसा कोई दस्तावेज़, जिस पर उक्त अधिनियम के अधीन शुल्क देय हो, तब तक किसी न्यायालय अथवा किसी लोक कार्यालय द्वारा कार्यान्वित नहीं किया जाएगा, जब तक कि उस दस्तावेज़ पर अधिनियम के अधीन देय उपयुक्त शुल्क का भुगतान न कर दिया जाए — जब ऐसा कोई दस्तावेज़, जिस पर न्यायालय शुल्क देय हो, किसी न्यायालय अथवा लोक कार्यालय में प्राप्त हो जाता है, किन्तु उस पर देय संपूर्ण अथवा आंशिक न्यायालय शुल्क, न्यायालय की भूल अथवा असावधानी के कारण जमा नहीं किया गया हो, तब न्यायालय अपने विवेकाधिकार से निर्धारित समय के भीतर न्यायालय शुल्क की कमी के भुगतान की अनुमति दे सकता है — ऐसे भुगतान के उपरांत, उस दस्तावेज़ का "वही बल एवं प्रभाव" होगा, मानो न्यायालय शुल्क प्रथम दृष्टया ही जमा कर दिया गया हो — निर्विवाद रूप से "दस्तावेज़" अभिव्यक्ति के दायरे में दीवानी प्रक्रिया संहिता के अधीन परिकल्पित वादपत्र भी सम्मिलित है — न्यायालय शुल्क अधिनियम, 1870।

न्यायिक विवेकाधिकार : प्रयोग का क्षेत्र — अभिनिर्धारित : यह सुस्थापित है कि न्यायिक विवेकाधिकार का प्रयोग विधि के स्थापित सिद्धांतों के अनुरूप किया जाना चाहिए — इसका प्रयोग इस प्रकार नहीं किया जाना चाहिए कि वाद के किसी एक पक्षकार को अनुचित लाभ प्राप्त हो।

विक्रय अनुबंध के विशिष्ट पालन हेतु दायर वाद में, वाद का मूल्य ₹13 लाख निर्धारित किया गया था, जिस पर वादी ने तमिलनाडु न्यायालय शुल्क एवं वाद मूल्यांकन अधिनियम, 1955 की धारा 42 के अधीन ₹99,875/- न्यायालय शुल्क की गणना की थी। तथापि, वादपत्र दिनांक 20.08.1998 को केवल ₹8,200/- न्यायालय शुल्क के साथ प्रस्तुत किया गया। वादपत्र को दिनांक 24.08.1998 को न्यायालय द्वारा विभिन्न आपत्तियों सहित वापस कर दिया गया, जिनमें न्यायालय शुल्क की कमी भी सम्मिलित थी। वादियों ने दीर्घ

विलंब के पश्चात् दिनांक 03.05.2002 को वादपत्र का पुनः प्रस्तुतीकरण (प्रथम पुनः प्रस्तुतीकरण) ₹96,000/- न्यायालय शुल्क के साथ, प्रस्तुतीकरण में हुई देरी को क्षम्य करने हेतु एक आवेदन सहित किया। दिनांक 03.06.2002 को वादपत्र पुनः न्यायालय शुल्क की कमी के आधार पर वापस कर दिया गया। तत्पश्चात् वादपत्र का पुनः प्रस्तुतीकरण दिनांक 22.01.2004 को (द्वितीय पुनः प्रस्तुतीकरण) ₹2,875/- की अतिरिक्त न्यायालय शुल्क राशि जमा करते हुए तथा प्रस्तुतीकरण में हुई देरी को क्षम्य करने हेतु आवेदन सहित किया गया। उसी दिन वादपत्र पुनः कुछ आपत्तियों के साथ वापस कर दिया गया। दिनांक 09.04.2004 को वादपत्र का पुनः प्रस्तुतीकरण (तृतीय पुनः प्रस्तुतीकरण) प्रस्तुतीकरण में 70 दिनों की देरी को क्षम्य करने हेतु आवेदन सहित किया गया।

दिनांक 15.04.2004 को न्यायालय द्वारा वाद को अभिलेख पर ग्रहण कर लिया गया। दिनांक 05.10.2004 को मूल उत्तरदाता के विरुद्ध एकपक्षीय कार्यवाही का आदेश पारित किया गया। उसी दिन एकमात्र उत्तरदाता द्वारा स्वयं को उक्त वाद में उत्तरदाता पक्षकार के रूप में समाविष्ट किए जाने हेतु आवेदन दायर किया गया, इस आधार पर कि उसने दिनांक 08.03.1999 को वाद संपत्ति क्रय की थी। विचारण न्यायालय ने उक्त समावेशन आवेदन को स्वीकार कर लिया तथा एकमात्र उत्तरदाता वाद में द्वितीय उत्तरदाता बन गया।

उत्तरदाता ने वादपत्र के तीन पुनः प्रस्तुतीकरणों में से प्रथम पुनः प्रस्तुतीकरण में हुई 1328 दिनों की देरी को क्षम्य किए जाने संबंधी विचारण न्यायालय के निर्णय को चुनौती देते हुए उच्च न्यायालय के समक्ष पुनरीक्षण याचिका दायर की। एक अन्य पुनरीक्षण याचिका उस आदेश को चुनौती देते हुए दायर की गई, जिसके द्वारा विचारण न्यायालय ने द्वितीय पुनः प्रस्तुतीकरण में हुई 585 दिनों की देरी को क्षम्य किया था। उक्त दोनों पुनरीक्षण याचिकाओं के लंबित रहने के दौरान, द्वितीय उत्तरदाता (एकमात्र उत्तरदाता) ने अपना लिखित कथन दायर किया तथा आदेश 7 नियम 11 दीवानी प्रक्रिया संहिता के अधीन वादपत्र के निरस्तीकरण हेतु आवेदन भी दायर किया। द्वितीय उत्तरदाता/उत्तरदाता द्वारा आदेश 7 नियम 11 दीवानी प्रक्रिया संहिता के अधीन दायर आवेदन निरस्त कर दिया गया और उसके विरुद्ध पुनरीक्षण याचिका दायर की गई। उक्त पुनरीक्षण याचिका तथा वादपत्र के प्रथम दो पुनः प्रस्तुतीकरणों में हुई देरी को चुनौती देने वाली पुनरीक्षण याचिकाएँ एक साथ सुनी गईं और उच्च न्यायालय द्वारा एक सामान्य आदेश के माध्यम से स्वीकार कर ली गईं।

वर्तमान अपीलें उच्च न्यायालय द्वारा पारित आदेश को चुनौती देते हुए दायर की गई

थीं।

अपीलों को निरस्त करते हुए, न्यायालय ने

अभिनिर्धारित किया : 1. संपत्ति अंतरण अधिनियम की धारा 52 में *लंबित वाद* के सिद्धांत को समाविष्ट किया गया है तथा यह उपबंधित किया गया है कि किसी भी ऐसे वाद अथवा कार्यवाही की लंबित अवस्था के दौरान, जिसमें किसी अचल संपत्ति के संबंध में कोई अधिकार प्रत्यक्ष एवं विशिष्ट रूप से विवाद अधीन हो, उस संपत्ति, जो ऐसे वाद अथवा कार्यवाही की विषय-वस्तु है, का "अंतरण अथवा अन्य प्रकार से व्यवहार" इस प्रकार नहीं किया जा सकता कि उससे उस वाद अथवा कार्यवाही के किसी अन्य पक्षकार के अधिकार प्रभावित हों। यह विधि का स्थापित सिद्धांत है कि धारा 52 का प्रभाव यह नहीं है कि वाद की लंबित अवस्था के दौरान वाद के किसी पक्षकार द्वारा किए गए अंतरण को शून्य बना दिया जाए, बल्कि उसका प्रभाव केवल इतना है कि ऐसे अंतरण उस वाद के पक्षकारों के अधिकारों के अधीन होंगे, जिनका अंतिम रूप से वाद में निर्धारण किया जाएगा। दूसरे शब्दों में, ऐसा अंतरण वाद के परिणाम के अधीन रहते हुए वैध बना रहता है। *मुकदमा-लंबित* क्रेता अपने विक्रेता के वही विधिक अधिकार एवं दायित्व प्राप्त करेगा अथवा वहन करेगा, जिनका अंततः न्यायालय द्वारा निर्धारण किया जाएगा। धारा 52 के क्षेत्राधिकार के इस प्रकार होने पर दो प्रश्न उत्पन्न होते हैं : क्या *मुकदमा-लंबित* क्रेता (1) वाद में पक्षकार के रूप में समाविष्ट किए जाने का अधिकारी है; तथा (2) यदि समाविष्ट किया जाता है, तो वह किन आधारों पर वाद का प्रतिवाद करने का अधिकारी होगा। इस न्यायालय ने एकाधिक अवसरों पर यह धारित किया है कि जब कोई *मुकदमा-लंबित* क्रेता स्वयं को वाद में उत्तरदाता पक्षकार के रूप में समाविष्ट किए जाने की प्रार्थना करता है, तो ऐसे आवेदन पर उदारतापूर्वक विचार किया जाना चाहिए। (कंडिका 16-19) [386-ए-बी; 387-बी-सी-एफ-जी]

जयराम मुदलियार बनाम अय्यास्वामी एवं अन्य, (1972) 2 एस.सी.सी. 200 : 1973 (1) एस.सी.आर. 139; *विनोद सेठ बनाम देविंदर बजाज,* (2010) 8 एस.सी.सी. 1; *संजय वर्मा बनाम मणिक राय,* ए.आई.आर 2007 एस.सी. 1332 : 2006 (10) पूरक एस.सी.आर. 469 — पर निर्भरता व्यक्त की गई।

बेल्केमी बनाम सुबीना (1857) डी.ई. जी.ई.जे 566 — संदर्भित।

2. न्यायालय शुल्क का प्रश्न वादी एवं न्यायालय के मध्य का विषय है। न्यायालय शुल्क अधिनियम, 1870 की धारा 12 की उपधारा (1) मूल्यांकन से संबंधित प्रश्नों पर विचारण न्यायालय के निर्णय को अंतिमता प्रदान करती है। तथापि, उपधारा (2) यह उपबंधित करती है कि यदि अपीलीय अथवा पुनरीक्षण न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि अधीनस्थ न्यायालय ने राजस्व के प्रतिकूल प्रश्न का निर्णय किया है, तो वह न्यायालय शुल्क की कमी की पूर्ति करने का निर्देश दे सकता है। उपधारा (1) के अधीन विचारण न्यायालय के निर्णय को प्रदत्त अंतिमता तथा इस प्रश्न की जाँच करने की अपीलीय न्यायालय की शक्ति के सीमित क्षेत्र को देखते हुए कि क्या अधीनस्थ न्यायालय ने राजस्व के प्रतिकूल प्रश्न का गलत निर्णय किया है, यह निष्कर्ष अनिवार्यतः निकलता है कि उत्तरदाता को विचारण न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध पुनरीक्षण याचिका दायर करने का कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। तथापि, मद्रास न्यायालय शुल्क अधिनियम, 1955 के अधीन स्थिति भिन्न है। धारा 12(2) उत्तरदाता को न्यायालय शुल्क के प्रश्न को उठाने का स्पष्ट अधिकार प्रदान करती है। धारा 12(4)(क) यह उपबंधित करती है कि अपीलीय न्यायालय स्वयं संज्ञान लेकर अथवा किसी पक्षकार के आवेदन पर अधीनस्थ न्यायालय द्वारा धारा 12(2) के अधीन दिए गए निर्णय की शुद्धता के प्रश्न पर विचार कर सकता है। यदि न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि अधीनस्थ न्यायालय में जमा किया गया न्यायालय शुल्क पर्याप्त नहीं है, तो न्यायालय संबंधित पक्षकार को उक्त कमी की पूर्ति करने हेतु निर्देश देगा। धारा 12(4) की उपधारा (ग) केवल उस स्थिति में अपील की खारिजी का उपबंध करती है, जब न्यायालय शुल्क की कमी की पूर्ति करने में विफलता उस डिक्री के उस भाग से संबंधित हो, जिसके द्वारा वादी के दावे का कोई भाग विचारण न्यायालय द्वारा निरस्त कर दिया गया हो। किन्तु, जहाँ वादी के पक्ष में पारित डिक्री से संबंधित न्यायालय शुल्क की कमी की पूर्ति में चूक हुई हो, वहाँ उक्त धारा केवल राजस्व वसूली अधिनियम का सहारा लेकर राशि की वसूली का अधिदेश देती है, न कि वाद को निरस्त करने का। स्पष्टतः विधायिका का आशय यह नहीं था कि वादियों द्वारा अपर्याप्त न्यायालय शुल्क जमा किए जाने के कारण प्रतिवादियों को कोई लाभ प्रदान किया जाए।

अतः विधि स्पष्ट है कि यद्यपि तमिलनाडु अधिनियम के अधीन उत्तरदाता न्यायालय के संज्ञान में यह तथ्य ला सकता है कि वादी द्वारा जमा किया गया न्यायालय शुल्क विधि के अनुरूप नहीं है, तथापि केवल इसी आधार पर उत्तरदाता वाद में सफल नहीं हो सकता। किन्तु द्वितीय उत्तरदाता का विवाद न्यायालय शुल्क की राशि से संबंधित नहीं है, बल्कि परिसीमा

अवधि समाप्त हो जाने के पश्चात् न्यायालय शुल्क स्वीकार किए जाने से संबंधित है, जो वाद पर लागू होती है। [कंडिका 20-22] [389-सी-एफ-एच; 390-ए, सी-डी; 391-बी-एफ; 394-ए-डी]

रथनवर्मा राजा बनाम श्रीमती विमला, **ए.आई.आर 1961 एस.सी. 1299 : 1961 एस.सी.आर. 1015 — पर निर्भरता व्यक्त की गई।**

एस.एल. लक्ष्मण अय्यर बनाम टी.एस.पी.एल.पी. पलानियप्पा चेट्टियार, **ए.आई.आर 1935 मद्रास. 927 — संदर्भित।**

3. तमिलनाडु राज्य में वादों के मूल्यांकन तथा न्यायालय शुल्क के भुगतान से संबंधित विधि "तमिलनाडु न्यायालय शुल्क एवं वाद मूल्यांकन अधिनियम, 1955" है। उक्त अधिनियम की धारा 87 द्वारा न्यायालय शुल्क अधिनियम, 1870 तथा वाद मूल्यांकन अधिनियम, 1887 नामक दो अधिनियमों (जो वादों के मूल्यांकन तथा न्यायालय शुल्क के भुगतान के क्षेत्र को नियंत्रित करते थे) को निरस्त कर दिया गया। तमिलनाडु अधिनियम विभिन्न प्रकार के वादों एवं अपीलों के संबंध में वादों के मूल्यांकन तथा देय न्यायालय शुल्क के निर्धारण की विधि एवं प्रक्रिया का उपबंध करता है। अधिनियम की धारा 4 यह उपबंधित करती है कि ऐसा कोई दस्तावेज़, जिस पर उक्त अधिनियम के अधीन शुल्क देय हो, तब तक किसी न्यायालय अथवा किसी लोक कार्यालय द्वारा कार्यान्वित नहीं किया जाएगा, जब तक कि उस दस्तावेज़ के संबंध में उक्त अधिनियम के अधीन देय उपयुक्त शुल्क (न्यायालय शुल्क) का भुगतान न कर दिया जाए। धारा 5 यह उपबंधित करती है कि जब ऐसा कोई दस्तावेज़, जिस पर न्यायालय शुल्क देय हो, किसी न्यायालय अथवा लोक कार्यालय में प्राप्त हो जाता है, किन्तु उस दस्तावेज़ पर देय उपयुक्त न्यायालय शुल्क का संपूर्ण अथवा कोई भाग न्यायालय की भूल अथवा असावधानी के कारण जमा नहीं किया गया हो, तब न्यायालय अपने विवेकाधिकार से, निर्धारित की जाने वाली अवधि के भीतर न्यायालय शुल्क की कमी के भुगतान की अनुमति दे सकता है। धारा 5 आगे यह घोषित करती है कि ऐसे भुगतान के उपरांत, ऐसे दस्तावेज़ का "वही बल एवं प्रभाव होगा" मानो न्यायालय शुल्क प्रथम दृष्टया ही जमा कर दिया गया हो। निर्विवाद रूप से, धारा 4 एवं 5 में प्रयुक्त "दस्तावेज़" अभिव्यक्ति के दायरे में दीवानी प्रक्रिया संहिता के अधीन परिकल्पित वादपत्र भी सम्मिलित है। न्यायालय शुल्क अधिनियम, 1870 की धारा 28 के अधीन यह स्पष्टतः घोषित किया गया है कि "ऐसा कोई दस्तावेज़, जिस पर इस अधिनियम के अधीन मुद्रांक

लगाया जाना अपेक्षित हो, तब तक वैध नहीं होगा जब तक कि उस पर विधिवत् मुद्रांकन न किया गया हो।" तथापि, उसी धारा में यह भी उपबंधित किया गया है कि न्यायालय अपने विवेकाधिकार से उपयुक्त न्यायालय शुल्क के भुगतान की अनुमति दे सकता है और यदि उक्त कमी की पूर्ति कर दी जाती है, तो "उससे संबंधित प्रत्येक कार्यवाही वैसी ही वैध होगी, मानो उस पर प्रारंभ से ही विधिवत् मुद्रांकन किया गया हो।" तमिलनाडु अधिनियम की भाषा भिन्न है। यद्यपि धारा 4 यह घोषित करती है कि ऐसा कोई दस्तावेज़, जिस पर अधिनियम के अधीन न्यायालय शुल्क देय है किन्तु भुगतान नहीं किया गया है, उस पर कार्यवाही नहीं की जाएगी, तथापि वह ऐसे दस्तावेज़ को सर्वथा अवैध घोषित नहीं करती। [कंडिका 24-26] [394-एच; 395-ए-सी-जी-एच; 396-ए-ई]

4. आदेश 7 नियम 11 दीवानी प्रक्रिया संहिता के अनुसार, अन्य बातों के साथ, वादपत्र को उस स्थिति में निरस्त किया जाना आवश्यक है जहाँ दावा किया गया अनुतोष अल्पमूल्यांकित हो तथा/अथवा वादपत्र ऐसे कागज़ पर लिखा गया हो जिस पर अपर्याप्त मुद्रांकन हो, और दोनों ही स्थितियों में वादी निर्धारित समय के भीतर मूल्यांकन में सुधार करने अथवा आवश्यक मुद्रांक पत्र उपलब्ध कराकर अपेक्षित न्यायालय शुल्क का भुगतान करने में विफल रहता हो। नियम 13 स्पष्टतः यह घोषित करता है कि वादपत्र का निरस्तीकरण अपने आप में वादी को उसी कारण-कार्य के संबंध में नया वादपत्र प्रस्तुत करने से वंचित नहीं करेगा। तथापि, संहिता की धारा 149 न्यायालय शुल्क की कमी की पूर्ति करने की शक्ति से संबंधित है। धारा 149 केवल वादपत्र पर देय न्यायालय शुल्क तक ही सीमित नहीं है। उक्त धारा उन प्रत्येक दस्तावेज़ों से भी संबंधित है, जिनके संबंध में उपयुक्त विधि के अधीन न्यायालय शुल्क देय है। संहिता का आदेश 8 नियम 6 एवं 6-क के अधीन भरपाई तथा प्रति-दावा का उपबंध करता है। तमिलनाडु अधिनियम की धारा 8 के अधीन यह घोषित किया गया है कि "प्रतिदावा अथवा प्रति-दावा युक्त लिखित कथन उसी प्रकार शुल्कयोग्य होगा, जिस प्रकार वादपत्र।" अतः जब संहिता की धारा 149 ऐसे दस्तावेज़ की बात करती है, जिसके संबंध में न्यायालय शुल्क देय है, तब उसके दायरे में केवल वादपत्र ही नहीं, बल्कि अन्य विविध दस्तावेज़ भी आते हैं, जिनके संबंध में उपयुक्त विधि के अधीन न्यायालय शुल्क देय है, जिसमें वाद में लिखित कथन भी सम्मिलित है। अतः दीवानी प्रक्रिया संहिता की धारा 149 की भाषा से यह निष्कर्ष निकलता है कि जब कोई वादपत्र उस पर देय उपयुक्त न्यायालय शुल्क के भुगतान के बिना न्यायालय में प्रस्तुत किया जाता है, तब निःसंदेह न्यायालय को यह अधिकार है कि वह वादी को आवश्यक न्यायालय शुल्क का भुगतान करने

हेतु निर्देशित करे। न्यायालय की ऐसी शक्ति का प्रयोग वाद की किसी भी अवस्था पर किया जा सकता है। अतः समय व्यतीत हो जाने मात्र से न्यायालय की उस शक्ति पर कोई प्रतिबंध नहीं लगता, जिसके द्वारा वह न्यायालय शुल्क की उक्त कमी के भुगतान का निर्देश दे सके। तार्किक परिणामस्वरूप, वादी को भी मात्र समय व्यतीत हो जाने के कारण न्यायालय शुल्क की कमी जमा करने से वंचित नहीं कहा जा सकता। [कंडिका 27-28] [396-ई-एफ; 397-ए-बी-डी-एच; 398-ए]

5. वादपत्र के संबंध में न्यायालय शुल्क की कमी है अथवा नहीं, यह प्रश्न दो कारकों पर निर्भर करता है : (1) वाद का मूल्यांकन, तथा (2) उस पर देय उपयुक्त न्यायालय शुल्क का निर्धारण। दोनों में से किसी भी पक्ष में भूल (चाहे अनजाने में अथवा अन्यथा) हो सकती है। तमिलनाडु अधिनियम की धारा 12(1) के अधीन मुख्यतः न्यायालय का यह दायित्व है कि वह समस्त प्रासंगिक सामग्री का परीक्षण कर यह निर्धारित करे कि वादपत्र पर देय उचित न्यायालय शुल्क जमा किया गया है अथवा नहीं। तमिलनाडु अधिनियम की धारा 12(2) के अधीन उत्तरदाता को भी वाद के मूल्यांकन अथवा देय न्यायालय शुल्क के निर्धारण, अथवा वाद के मूल्यांकन की शुद्धता और/अथवा देय न्यायालय शुल्क के निर्धारण के संबंध में आपत्ति उठाने का अधिकार है। दोनों ही परिस्थितियों में वाद के मूल्यांकन की शुद्धता तथा/अथवा उस पर देय उपयुक्त न्यायालय शुल्क का निर्धारण न्यायालय द्वारा किया जाना आवश्यक है। यदि न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि उपयुक्त न्यायालय शुल्क का भुगतान नहीं किया गया है, तो धारा 12(2) से 12(4) में विनिर्दिष्ट परिणाम लागू होंगे। यदि ऐसा निष्कर्ष विचारण न्यायालय द्वारा निकाला जाता है, तो विचारण न्यायालय के लिए यह अनिवार्य है कि यदि वादी, विचारण न्यायालय द्वारा निर्देशित किए जाने के पश्चात् भी, आवश्यक न्यायालय शुल्क का भुगतान करने में विफल रहता है, तो वह वादपत्र को निरस्त कर दे — जिसका आवश्यक अर्थ यह है कि मामले के गुण-दोष के आधार पर कोई अधिनिर्णय नहीं किया जा सकता। यदि ऐसा निष्कर्ष अपीलीय न्यायालय द्वारा अपील की सुनवाई के दौरान निकाला जाता है, तो उसके परिणाम धारा 12(4)(ग) के अधीन विनिर्दिष्ट हैं। [कंडिका 32-33] [400-डी-एफ; 401-ए-सी]

6. आदेश 7 नियम 11 के अधीन, ऐसा वादपत्र जिसमें दावा किए गए अनुतोष का समुचित मूल्यांकन नहीं किया गया हो अथवा जो अपर्याप्त मुद्रांकित हो, निरस्त किए जाने के लिए उत्तरदायी है। तथापि, नियम 13 के अधीन, ऐसा निरस्तीकरण अपने आप में वादी को नया वादपत्र प्रस्तुत करने से वंचित नहीं करता। इससे स्वाभाविक रूप से यह निष्कर्ष

निकलता है कि किसी मामले में जहाँ वादपत्र आदेश 7 नियम 11 के अधीन निरस्त कर दिया जाता है और वादी नया वादपत्र प्रस्तुत करने का विकल्प चुनता है, वहाँ यह प्रश्न अनिवार्यतः उत्पन्न होगा कि क्या ऐसा नया वादपत्र वाद दायर करने हेतु विनिर्दिष्ट परिसीमा अवधि के भीतर है। यदि न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि ऐसा वाद परिसीमा से बाधित है, तो उसे पुनः आदेश 7 नियम 11 खंड (घ) के अधीन निरस्त किया जाना आवश्यक होगा। तथापि, दीवानी प्रक्रिया संहिता की धारा 149 न्यायालय को यह शक्ति प्रदान करती है कि यदि वाद अन्यथा परिसीमा अवधि के भीतर दायर किया गया हो, तो वह वाद दायर करने हेतु निर्धारित परिसीमा अवधि समाप्त हो जाने के पश्चात् भी न्यायालय शुल्क की कमी का भुगतान स्वीकार कर सके। अतः संसद द्वारा धारा 149 दीवानी प्रक्रिया संहिता अधिनियमित किए जाने के परिणामस्वरूप आदेश 7 नियम 11 दीवानी प्रक्रिया संहिता तथा तमिलनाडु अधिनियम की धारा 4 की कठोरता कुछ सीमा तक शिथिल हो जाती है। परिसीमा केवल विधि का एक उपबंध है; और विधायिका सामान्य परिसीमा नियमों में सदैव अपवाद निर्धारित कर सकती है, जैसे परिसीमा अधिनियम की धारा 5, जो न्यायालय को अपील आदि दायर करने में हुई देरी को क्षम्य करने का अधिकार प्रदान करती है। [कंडिका 35] [401-एफ-एच; 402-ए-सी]

7. यह सुस्थापित है कि न्यायिक विवेकाधिकार का प्रयोग विधि के स्थापित सिद्धांतों के अनुरूप किया जाना आवश्यक है। इसका प्रयोग इस प्रकार नहीं किया जाना चाहिए कि वाद के किसी एक पक्षकार को अनुचित लाभ प्राप्त हो। ऐसे मामले में जहाँ वादपत्र विधि द्वारा विनिर्दिष्ट परिसीमा अवधि के भीतर, किन्तु अपूर्ण न्यायालय शुल्क के साथ दायर किया गया हो और वादी परिसीमा अवधि समाप्त होने के पश्चात् न्यायालय शुल्क की कमी को पूरा करना चाहता हो, वहाँ न्यायालय, यद्यपि दीवानी प्रक्रिया संहिता की धारा 149 के अधीन विवेकाधिकार रखता है, तथापि न्यायालय शुल्क की कमी के विलंबित भुगतान हेतु दिए गए स्पष्टीकरण का सावधानीपूर्वक परीक्षण करेगा, क्योंकि ऐसे विवेकाधिकार का प्रयोग प्रतिवादियों अथवा प्रतिवादियों के माध्यम से दावा करने वाले व्यक्तियों के अधिकारों एवं दायित्वों पर निश्चित रूप से प्रभाव डालेगा। (वर्तमान मामला ऐसी ही स्थिति का एक उत्कृष्ट उदाहरण है।) इससे अनिवार्यतः यह निष्कर्ष निकलता है कि दीवानी प्रक्रिया संहिता की धारा 149 वादी के पक्ष में ऐसा निरपेक्ष अधिकार प्रदान नहीं करती कि वह अपनी इच्छानुसार कभी भी न्यायालय शुल्क जमा कर सके। यह केवल वादी को न्यायालय से यह अनुमति प्राप्त करने में सक्षम बनाती है कि वह वादपत्र प्रस्तुत किए जाने के पश्चात् किसी बाद के

समय पर न्यायालय शुल्क जमा कर सके। न्यायालय द्वारा विवेकाधिकार का प्रयोग इस बात पर सशर्त है कि न्यायालय इस स्पष्टीकरण से संतुष्ट हो कि परिसीमा अवधि के भीतर न्यायालय शुल्क जमा न करने हेतु वादी ने विधिसम्मत एवं स्वीकार्य कारण प्रस्तुत किया है। विचारण न्यायालय द्वारा धारा 149 के अधीन विवेकाधिकार का प्रयोग विधि के सिद्धांतों के अनुरूप नहीं किया गया था। [कंडिका 37, 39] [402-डी-एच; 403-ए, एफ]

विधिक प्रतिनिधिगण द्वारा मन्नन लाल बनाम श्रीमती छोटका बीबी (मृत) एवं अन्य, **ए.आई.आर 1971 एस.सी. 1374 : 1971 (1) एस.सी.आर. 253;** *पी.के. पलानीसामी बनाम एन. अरुमुगम एवं एक अन्य,* **(2009) 9 एस.सी.सी. 173 : 2009 (11) एस.सी.आर. 342 — पर निर्भरता व्यक्त की गई।**

के. नटराजन बनाम पी.के. राजशेखरन, **(2003) 2 एम.एल.जे. 305;** *श्रीमती सैला बाला दासी बनाम श्रीमती निर्मला सुंदरी दासी एवं एक अन्य,* **1958 एस.सी.आर. 1287 : ए.आई.आर 1958 एस.सी. 394;** *गवरंगा साहू बनाम बताकृष्ण पात्रो,* **(1909) आई.एल.आर 32 मद्रास 305 (एफबी);** *फ़ैजुल्लाह बनाम मौलादाद,* **ए.आई.आर 1929 पी.सी. 147 — संदर्भित।**

नजीर संदर्भ :

(2003) 2 एम.एल.जे. 305	**—**	**संदर्भित**	**—**	**कंडिका 12(3)**
1973 (1) एस.सी.आर. 139	**—**	**अवलम्बित**	**—**	**कंडिका 16**
(1857) डीई. जी.ई.जे. 566	**—**	**संदर्भित**	**—**	**कंडिका 16**
(2010) 8 एस.सी.सी. 1	**—**	**अवलम्बित**	**—**	**कंडिका 16**
2006 (10) पूरक एस.सी.आर. 469	**—**	**अवलम्बित**	**—**	**कंडिका 17**
1958 एस.सी.आर. 1287	**—**	**संदर्भित**	**—**	**कंडिका 19**
ए.आई.आर 1935 मद्रास. 927	**—**	**संदर्भित**	**—**	**कंडिका 20**
1961 एस.सी.आर. 1015	**—**	**अवलम्बित**	**—**	**कंडिका 21**
1971 (1) एस.सी.आर. 253	**—**	**संदर्भित**	**—**	**कंडिका 29**

(1909) आई.एल.आर 32 मद्रास 305 (एफ.बी) — संदर्भित — कंडिका 30

ए.आई.आर 1929 पी.सी. 147 — संदर्भित — कंडिका 30

2009 (11) एस.सी.आर. 342 — अवलम्बित — कंडिका 36

दीवानी अपीलीय क्षेत्राधिकार : 2012 की दीवानी अपील संख्या 4838-4840

मद्रास उच्च न्यायालय द्वारा 2006 की सी.आर.पी. (पी.डी.) संख्या 657, 658 एवं 797 में पारित दिनांक 22.12.2006 के निर्णय एवं आदेश से उत्पन्न।

अपीलकर्ताओं की ओर से : एस. गुरुकृष्ण कुमार, ए. प्रसन्ना वेंकट, श्रीकला गुरुकृष्ण कुमार।

उत्तरदाता की ओर से : आर. वेंकटरामणी, अल्जो जोसेफ, वी. सेंथिल कुमार, बालाजी श्रीनिवासन।

न्यायालय का निर्णय **न्यायमूर्ति चेलमेश्वर** द्वारा प्रदत्त किया गया।

1. अनुमति प्रदान की जाती है।

2. वर्तमान पाँच याचिकाकर्ताओं ने यहाँ ओ.एस. संख्या 100/2004, एक सेंगोडा गौंडर के विरुद्ध, जो विशेष अनुमति याचिका में पक्षकार नहीं है, मुख्यतः दिनांक 22.03.1995 के पंजीकृत विक्रय अनुबंध के विशिष्ट पालन हेतु दायर किया, जो वाद अनुसूचीबद्ध लगभग 2.00 एकड़ भूमि के विक्रय तथा उसके कब्जे के परिदान से संबंधित था; वैकल्पिक रूप से यह प्रार्थना की गई कि उत्तरदाता को ₹12,15,125/- की राशि ब्याज सहित वापस करने का निर्देश दिया जाए।

3. इस निर्णय में पक्षकारों का उल्लेख उसी प्रकार किया गया है, जिस प्रकार वे उपरोक्त वाद में विन्यस्त हैं।

4. वादियों का मामला यह है कि उपरोक्त उत्तरदाता एक श्री राधाकृष्णन तथा तमिलनाडु इंडस्ट्रियल इन्वेस्टमेंट कॉरपोरेशन लिमिटेड (संक्षेप में "टी.एन.आई.आई.सी.") का ऋणी था। यह आरोप लगाया गया कि वादियों का आशय था कि संपत्ति वास्तव में उनके पक्ष में हस्तांतरित किए जाने से पूर्व सेंगोडा गौंडर उपरोक्त दोनों व्यक्तियों के ऋणों का

परिशोधन कर दे। उक्त प्रयोजन हेतु सेंगोडा गौंडर ने वादियों से किश्तों में ₹12,15,125/- की राशि प्राप्त की। ऐसी राशि प्राप्त करने के बावजूद सेंगोडा गौंडर ने किसी न किसी बहाने से विक्रय विलेख निष्पादित नहीं किया। परिणामस्वरूप उक्त वाद दायर किया गया।

5. वाद की लंबित अवस्था के दौरान, वर्तमान एकमात्र उत्तरदाता ने उक्त वाद में स्वयं को उत्तरदाता पक्षकार के रूप में समाविष्ट किए जाने हेतु आवेदन दायर किया, इस आधार पर कि उसने दिनांक 08.03.1999 को ₹3,93,560/- प्रतिफल राशि पर वाद अनुसूचीबद्ध संपत्ति क्रय की थी। अभिलेख से प्रतीत होता है कि उक्त समावेशन आवेदन स्वीकृत कर लिया गया तथा वर्तमान एकमात्र उत्तरदाता उपरोक्त वाद में द्वितीय उत्तरदाता के रूप में समाविष्ट कर लिया गया। उक्त समावेशन के परिणामस्वरूप वादपत्र में कंडिका 10-ए जोड़कर संशोधन किया गया, जिसका विवरण वर्तमान प्रयोजन हेतु आवश्यक नहीं है।

6. प्रारंभ में वाद का मूल्यांकन ₹13,31,663/- किया गया था, जिस पर वादी ने यह गणना की कि तमिलनाडु न्यायालय शुल्क एवं वाद मूल्यांकन अधिनियम, 1955 की धारा 42 के अधीन ₹99,875.75/- न्यायालय शुल्क देय है (जिसे सुविधा की दृष्टि से आगे "तमिलनाडु अधिनियम" कहा गया है। वादपत्र दिनांक 20.08.1998 को अपूर्ण न्यायालय शुल्क के साथ प्रस्तुत किया गया था। केवल ₹8,200/- की राशि जमा की गई थी। वादपत्र को न्यायालय द्वारा दिनांक 24.08.1998 को विभिन्न आपत्तियों सहित वापस कर दिया गया, जिनमें न्यायालय शुल्क की कमी भी सम्मिलित थी। वादियों ने दीर्घ विलंब के पश्चात् दिनांक 03.05.2002 को वादपत्र का पुनः प्रस्तुतीकरण (प्रथम पुनः प्रस्तुतीकरण) ₹96,000/- न्यायालय शुल्क के साथ तथा प्रस्तुतीकरण में हुई देरी को क्षम्य करने हेतु आवेदन सहित किया। दिनांक 03.06.2002 को वादपत्र पुनः, अन्य बातों के साथ, इस आधार पर वापस कर दिया गया कि न्यायालय शुल्क में अब भी कमी शेष थी। अंततः वादपत्र का पुनः प्रस्तुतीकरण दिनांक 22.01.2004 को (द्वितीय पुनः प्रस्तुतीकरण) ₹2,875/- की अतिरिक्त न्यायालय शुल्क राशि जमा करते हुए तथा प्रस्तुतीकरण में हुई देरी को क्षम्य करने हेतु आवेदन सहित किया गया। उसी दिन वादपत्र पुनः कुछ आपत्तियों के साथ वापस कर दिया गया। दिनांक 09.04.2004 को वादपत्र का पुनः प्रस्तुतीकरण (तृतीय पुनः प्रस्तुतीकरण) प्रस्तुतीकरण में 70 दिनों की देरी को क्षम्य करने हेतु आवेदन सहित किया गया। दिनांक 15.04.2004 को न्यायालय द्वारा वाद को ओ.एस. संख्या 100/2004 के रूप में क्रमांकित किया गया। दिनांक 05.10.2004 को सेंगोडा गौंडर के विरुद्ध एकपक्षीय कार्यवाही का आदेश पारित किया गया। उसी दिन वर्तमान एकमात्र उत्तरदाता ने आई.ए. संख्या 1532/2004 में

समावेशन आवेदन दायर किया, जिसे दिनांक 09.03.2005 के आदेश द्वारा स्वीकार कर लिया गया।

7. वर्तमान उत्तरदाता ने मद्रास उच्च न्यायालय के समक्ष सी.आर.पी. (पी.डी.) संख्या 658/2006 दायर कर, विचारण न्यायालय द्वारा आई.ए. संख्या 76/2004 में वादपत्र के उपरोक्त तीन पुनः प्रस्तुतीकरणों में से प्रथम पुनः प्रस्तुतीकरण में हुई 1328 दिनों की देरी को क्षम्य किए जाने के निर्णय को चुनौती दी। एक अन्य सी.आर.पी. (पी.डी.) संख्या 657/2006 विचारण न्यायालय के आई.ए. संख्या 75/2004, दिनांक 22.01.2004 के आदेश के विरुद्ध दायर की गई, जिसके द्वारा विचारण न्यायालय ने उपरोक्त पुनः प्रस्तुतीकरणों में से द्वितीय पुनः प्रस्तुतीकरण में हुई 585 दिनों की देरी को क्षम्य किया था।

8. उपरोक्त दोनों सी.आर.पी. के लंबित रहने के दौरान, द्वितीय उत्तरदाता (वर्तमान एकमात्र उत्तरदाता) ने अपना लिखित कथन दायर किया तथा आई.ए. संख्या 3/2006 में दीवानी प्रक्रिया संहिता के आदेश 7 नियम 11 का आह्वान करते हुए वादपत्र के निरस्तीकरण हेतु आवेदन भी दायर किया। एक सप्ताह पश्चात्, दिनांक 29.12.2005 को वादियों ने वादपत्र में संशोधन हेतु आई.ए. संख्या 1/2006 दायर किया।

9. वादियों द्वारा दायर आई.ए. संख्या 1/2006 को दिनांक 16.02.2006 के आदेश द्वारा स्वीकार कर लिया गया। इससे व्यथित होकर वर्तमान एकमात्र उत्तरदाता ने उक्त मामले को सी.आर.पी. (पी.डी.) संख्या 769/2006 के माध्यम से उच्च न्यायालय में चुनौती दी, जिसे दिनांक 25.04.2006 के आदेश द्वारा निरस्त कर दिया गया। वर्तमान द्वितीय उत्तरदाता/उत्तरदाता द्वारा दायर आई.ए. संख्या 3/2006 को दिनांक 31.03.2006 के आदेश द्वारा निरस्त कर दिया गया तथा उसके विरुद्ध सी.आर.पी. (पी.डी.) संख्या 797/2006 दायर की गई।

10. अंततः, सी.आर.पी. (पी.डी.) संख्या 797/2006 को सी.आर.पी. संख्या 658 एवं 657/2006 के साथ एकत्र सुनवाई हेतु लिया गया और उच्च न्यायालय द्वारा दिनांक 22.12.2006 के सामान्य आदेश द्वारा स्वीकार कर लिया गया, जिसमें आई.ए. संख्या 76, 75/2004 तथा 3/2006 में पारित आदेशों को अपास्त कर दिया गया। उक्त आदेश का प्रवर्तनीय अंश निम्नलिखित है :

"परिणामस्वरूप, तीनों सी.आर.पी. स्वीकार की जाती हैं। जिला न्यायालय, इरोड द्वारा

वाद संख्या 100/2004 को क्रमांकित करना तथा अतिरिक्त जिला न्यायाधीश (एफ.टी.सी.-IV), इरोड, भवानी को अंतरण के उपरांत उसे ओ.एस. संख्या 4/2005 के रूप में पुनः क्रमांकित करना अपास्त किया जाता है और फलस्वरूप विचारण न्यायालय को निर्देशित किया जाता है कि वह उक्त वाद को अपने अभिलेख से निरसित कर दे।"

अतः, यह विशेष अनुमति याचिका दायर की गई।

11. प्रारंभ में वाद उप-न्यायालय, भवानी के समक्ष प्रस्तुत किया गया था, किन्तु तमिलनाडु अधिनियम संख्या 1/2004 द्वारा दीवानी न्यायालयों के धन-संबंधी क्षेत्राधिकार में किए गए परिवर्तन, जो दिनांक 29.12.2003 से प्रभावी हुआ, के कारण वाद का अंतिम पुनः प्रस्तुतीकरण (तृतीय पुनः प्रस्तुतीकरण) जिला न्यायालय, इरोड के समक्ष किया गया, जहाँ उसे ओ.एस. संख्या 100/2004 के रूप में क्रमांकित किया गया। तत्पश्चात् उक्त वाद अतिरिक्त जिला न्यायालय (एफ.टी.सी.-IV), भवानी को अंतरित कर दिया गया और वहाँ उसे ओ.एस. संख्या 4/2005 के रूप में पुनः क्रमांकित किया गया। वाद का प्रारंभिक प्रस्तुतीकरण तथा पूर्वोक्त प्रथम दो पुनः प्रस्तुतीकरण उप-न्यायालय, भवानी के समक्ष किए गए थे, जबकि अंतिम पुनः प्रस्तुतीकरण जिला न्यायालय, इरोड के समक्ष किया गया। प्रथम दो अवसरों पर प्रस्तुतीकरण में हुई देरी को उप-न्यायालय, भवानी द्वारा क्षम्य कर दिया गया था।

12. द्वितीय उत्तरदाता ने उच्च न्यायालय के समक्ष तथा हमारे समक्ष भी निम्नलिखित निवेदन किए :

(1) कि उप-न्यायालय, भवानी के पास देरी क्षम्य करने संबंधी दोनों आवेदनों में से प्रथम आवेदन (आई.ए. संख्या 76 एवं 75/2004) पर विचार करने तथा आदेश पारित करने का क्षेत्राधिकार नहीं था, क्योंकि दिनांक 22.01.2004 (जिस दिन उपरोक्त आई.ए. स्वीकृत किए गए) को, दीवानी न्यायालय अधिनियम में संशोधन के कारण, विधि की दृष्टि में उप-न्यायालय के समक्ष कोई वाद लंबित नहीं था;

(2) कि वादियों ने वादपत्र के पुनः प्रस्तुतीकरण में हुई देरी को क्षम्य कराने तथा न्यायालय शुल्क की कमी की पूर्ति करने हेतु आवेदन करते समय संहिता की धारा 149 का आह्वान नहीं किया, अतः वादपत्र निरस्त कर दिया जाना चाहिए था;

(3) कि प्रस्तुतीकरण में हुई देरी को उत्तरदाता को सूचना दिए बिना क्षम्य कर दिया गया। मद्रास उच्च न्यायालय के निर्णय *के. नटराजन बनाम पी.के. राजशेखरन,* (2003) 2 एम.एल.जे. 305 के अनुसार, जब वाद दायर करने हेतु विनिर्दिष्ट परिसीमा अवधि समाप्त हो जाने के पश्चात् न्यायालय शुल्क जमा किया जाता है, तब ऐसी प्रक्रिया अवैध होती है; तथा

(4) कि विचारण न्यायालय ने विधिक स्थिति का समुचित मूल्यांकन किए बिना यांत्रिक रूप से देरी को क्षम्य कर दिया, जबकि समुचित स्पष्टीकरण के अभाव में अत्यधिक देरी को क्षम्य किया जाना अनुचित है तथा दीवानी प्रक्रिया संहिता के उपबंधों के प्रतिकूल है।

13. जबकि वादियों ने उच्च न्यायालय के समक्ष यह तर्क प्रस्तुत किया :

(1) कि द्वितीय उत्तरदाता *मुकदमा-लंबित* क्रेता है (वाद प्रारंभ में दिनांक 20.08.1998 को प्रस्तुत किया गया था तथा द्वितीय उत्तरदाता ने स्वीकारतः वाद अनुसूचीबद्ध संपत्ति दिनांक 08.03.1999 को क्रय की थी), अतः प्रथम उत्तरदाता द्वारा वाद का प्रतिवाद न किए जाने की स्थिति में द्वितीय उत्तरदाता को वाद का प्रतिवाद करने का कोई *सुने जाने का अधिकार* प्राप्त नहीं है;

(2) कि द्वितीय उत्तरदाता के पक्ष में किया गया विक्रय बनावटी एवं नाममात्र का है; तथा

(3) कि न्यायालय शुल्क का भुगतान पूर्णतः राज्य एवं वादियों के मध्य का विषय है और इसलिए द्वितीय उत्तरदाता को उस संबंध में कोई आपत्ति उठाने का *सुने जाने का अधिकार* प्राप्त नहीं है।

14. उच्च न्यायालय के निष्कर्षों की शुद्धता की परीक्षा करने हेतु, सर्वप्रथम वादियों द्वारा द्वितीय उत्तरदाता के *सुने जाने का अधिकार* के संबंध में उठाए गए प्रारंभिक प्रश्नों/आपत्तियों की जाँच किया जाना आवश्यक है, ताकि यह निर्धारित किया जा सके कि क्या उसे तीनों दीवानी पुनरीक्षण याचिकाओं को बनाए रखने का अधिकार था, जिनका निस्तारण चुनौती अधीन सामान्य निर्णय द्वारा किया गया है।

15. प्रथम प्रारंभिक आपत्ति यह है कि द्वितीय उत्तरदाता, *मुकदमा-लंबित* क्रेता होने के

कारण, वादपत्र के पुनः प्रस्तुतीकरण में हुई देरी को क्षम्य करने संबंधी विचारण न्यायालय के निर्णय की शुद्धता पर प्रश्न उठाने का कोई *सुने जाने का अधिकार* नहीं रखता। *मुकदमा-लंबित* क्रेता के विधिक अधिकारों एवं दायित्वों को समझने हेतु *लंबित वाद* के सिद्धांत तथा उसके वैधानिक स्वरूप की न्यायशास्त्रीय पृष्ठभूमि का परीक्षण करना आवश्यक है।

16. इस न्यायालय ने *जयराम मुदलियार बनाम अय्यास्वामी एवं अन्य,* (1972) 2 एस.सी.सी. 200 (कंडिका 42 से 44) में बेल द्वारा लिखित *कमेंट्रीज़ ऑन द लॉज़ ऑफ स्कॉटलैंड* से एक उद्धरण का अनुमोदन सहित उल्लेख किया, जिसमें "वाद लंबित रहने के सिद्धांत" की व्याख्या की गई है :—

> "43. .... बेल ने कमेंट्रीज़ ऑन द लॉज़ ऑफ स्कॉटलैंड में कहा कि यह सिद्धांत 'वाद लंबित रहने के दौरान नवीनता नहीं लाई जाएगी' नामक न्यायसूत्र पर आधारित है। उन्होंने कहा:—
>
> > "यह एक सामान्य नियम है, जिसे न्यायशास्त्र की सभी नियमित प्रणालियों में मान्यता प्राप्त प्रतीत होती है कि जब किसी वाद की लंबित अवस्था के दौरान उसका उद्देश्य संपत्ति का अधिकार प्रदान करना अथवा अचल संपत्ति का कब्जा प्राप्त करना हो, तब क्रेता को *उस संपत्ति को उसी स्थिति में ग्रहण करने वाला माना जाएगा,* जैसी वह विक्रेता के व्यक्ति में विद्यमान थी, और वह उन दावों से आबद्ध रहेगा जिनका अंततः उद्घोष किया जाएगा।"
>
> संपत्ति अंतरण अधिनियम की धारा 52* (संक्षेप में 'टी.पी. अधिनियम') में लंबित मुकदमा के सिद्धांत को समाविष्ट किया गया है तथा यह उपबंधित किया गया है कि किसी भी ऐसे वाद अथवा कार्यवाही की लंबित अवस्था के दौरान, जिसमें किसी अचल संपत्ति के संबंध में कोई अधिकार प्रत्यक्ष एवं विशिष्ट रूप से विवाद अधीन हो, उस संपत्ति, जो ऐसे वाद अथवा कार्यवाही की विषय-वस्तु है, का "अंतरण अथवा अन्य प्रकार से व्यवहार" इस प्रकार नहीं किया जा सकता कि उससे उस वाद अथवा कार्यवाही के किसी अन्य पक्षकार के अधिकार प्रभावित हों। उक्त धारा निम्नलिखित सिद्धांत पर आधारित है:
>
> > "..........यह स्पष्टतः असंभव होता कि कोई कार्यवाही अथवा वाद सफलतापूर्वक समाप्ति तक पहुँच सके, यदि वाद लंबित रहने के दौरान किए

गए अंतरणों को प्रभावी होने की अनुमति दे दी जाए। प्रत्येक मामले में वादी को इस प्रकार पराजित किया जा सकता था कि उत्तरदाता निर्णय अथवा डिक्री पारित होने से पूर्व संपत्ति का अंतरण कर दे, और तब वादी को पुनः नव सिरे से कार्यवाही प्रारंभ करनी पड़ती, जो पुनः उसी प्रकार की कार्यवाही द्वारा पराजित की जा सकती थी।"

बेल्केमी बनाम सुबीना (1857) डी.ई. जी.ई.जे. 566 पृष्ठ 588

---

* संपत्ति अंतरण अधिनियम की धारा 52

"52. वाद से संबंधित संपत्ति का लंबित अवस्था में अंतरण—भारत की सीमाओं के भीतर क्षेत्राधिकार रखने वाले किसी न्यायालय में (जम्मू और कश्मीर राज्य को छोड़कर) अथवा भारत की सीमाओं से बाहर केंद्र सरकार द्वारा स्थापित किसी न्यायालय में किसी ऐसे वाद अथवा कार्यवाही की लंबित अवस्था के दौरान, जो कपटपूर्ण न हो और जिसमें किसी अचल संपत्ति के संबंध में कोई अधिकार प्रत्यक्ष एवं विशिष्ट रूप से विवाद अधीन हो, ऐसी संपत्ति का किसी पक्षकार द्वारा अंतरण अथवा अन्य प्रकार से व्यवहार इस प्रकार नहीं किया जाएगा कि उससे उस वाद अथवा कार्यवाही के किसी अन्य पक्षकार के उन अधिकारों पर प्रभाव पड़े, जो उसमें पारित की जाने वाली डिक्री अथवा आदेश के अधीन हो सकते हैं, सिवाय न्यायालय की प्राधिकृति तथा उसके द्वारा आरोपित शर्तों के अधीन।

स्पष्टीकरण—इस धारा के प्रयोजनों हेतु, किसी वाद अथवा कार्यवाही की लंबित अवस्था उस तिथि से प्रारंभ मानी जाएगी, जिस दिन वादपत्र प्रस्तुत किया गया अथवा सक्षम क्षेत्राधिकार वाले न्यायालय में कार्यवाही संस्थित की गई, और तब तक जारी मानी जाएगी जब तक कि उक्त वाद अथवा कार्यवाही का अंतिम डिक्री अथवा आदेश द्वारा निस्तारण न हो जाए तथा ऐसी डिक्री अथवा आदेश का पूर्ण संतोष अथवा निर्वहन प्राप्त न हो जाए, अथवा तत्संबंधी निष्पादन हेतु विधि द्वारा विनिर्दिष्ट परिसीमा अवधि समाप्त हो जाने के कारण वह अप्राप्य न हो जाए।"

इस न्यायालय द्वारा *विनोद सेठ बनाम देविंदर बजाज,* (2010) 8 एस.सी.सी. 1 में अनुमोदन सहित उद्धृत।

17. यह विधि की स्थापित स्थिति है कि धारा 52 का प्रभाव यह नहीं है कि वाद की लंबित अवस्था के दौरान वाद के किसी पक्षकार द्वारा किए गए अंतरण को शून्य बना दिया

जाए, बल्कि उसका प्रभाव केवल इतना है कि ऐसे अंतरण उस वाद के पक्षकारों के अधिकारों के अधीन होंगे, जिनका अंतिम रूप से वाद में निर्धारण किया जाएगा। दूसरे शब्दों में, ऐसा अंतरण वाद के परिणाम के अधीन रहते हुए वैध बना रहता है। वाद लंबित रहने के दौरान का क्रेता अपने विक्रेता के वही विधिक अधिकार एवं दायित्व प्राप्त करेगा अथवा वहन करेगा, जिनका अंततः न्यायालय द्वारा निर्धारण किया जाएगा।

> "केवल वाद की लंबित अवस्था मात्र किसी पक्षकार को उस संपत्ति के संबंध में व्यवहार करने से नहीं रोकती, जो वाद की विषय-वस्तु है। उक्त धारा केवल यह उपबंधित करती है कि ऐसा अंतरण किसी भी प्रकार से दूसरे पक्षकार के उन अधिकारों को प्रभावित नहीं करेगा, जो वाद में पारित की जाने वाली किसी डिक्री के अधीन हो सकते हैं, जब तक कि संपत्ति का अंतरण न्यायालय की अनुमति से न किया गया हो।"

[संजय वर्मा बनाम मणिक राय, ए.आई.आर. 2007 एस.सी. 1332, कंडिका 12]

18. धारा 52 का क्षेत्र इस प्रकार होने पर दो प्रश्न उत्पन्न होते हैं : क्या वाद लंबित रहने के दौरान का क्रेता (1) वाद में पक्षकार के रूप में समाविष्ट किए जाने का अधिकारी है; तथा (2) यदि समाविष्ट किया जाता है, तो वह किन आधारों पर वाद का प्रतिवाद करने का अधिकारी होगा।

19. इस न्यायालय ने एकाधिक अवसरों पर यह धारित किया है कि जब वाद लंबित रहने के दौरान का क्रेता स्वयं को वाद में उत्तरदाता पक्षकार के रूप में समाविष्ट किए जाने की प्रार्थना करता है, तो ऐसे आवेदन पर उदारतापूर्वक विचार किया जाना चाहिए। इस न्यायालय ने *श्रीमती सैला बाला दासी बनाम श्रीमती निर्मला सुंदरी दासी एवं एक अन्य*, ए.आई.आर. 1958 एस.सी. 394 में यह भी धारित किया कि "न्याय की अपेक्षा है" कि वाद लंबित रहने के दौरान के क्रेता को "अपने अधिकारों की रक्षा करने का अवसर दिया जाना चाहिए।" वह ऐसा मामला था, जिसमें विवादित संपत्ति एक उत्तरदाता द्वारा दूसरे उत्तरदाता के पक्ष में बंधक रखी गई थी। बंधकधारी ने वाद दायर किया, डिक्री प्राप्त कर ली तथा "बंधक रखी गई संपत्ति के विक्रय हेतु कार्यवाही प्रारंभ की।" अपीलकर्ता सैला बाला, जिसने डिक्री पारित होने के पश्चात् निर्णय-ऋणी से उक्त संपत्ति क्रय की थी, ने निष्पादन कार्यवाही में स्वयं को समाविष्ट किए जाने तथा निष्पादन का प्रतिरोध करने की प्रार्थना की। उक्त आवेदन का विभिन्न आधारों पर विरोध किया गया। इस न्यायालय का मत था कि सैला बाला को

दीवानी प्रक्रिया संहिता की धारा 146 के अधीन अभिलेख पर लाए जाने का अधिकार था, ताकि वह अपने हितों की रक्षा कर सके, क्योंकि वाद लंबित रहने के दौरान की क्रेता होने के कारण वह अपने विक्रेता के विरुद्ध पारित डिक्री से आबद्ध होती। इस प्रश्न पर कुछ मतभेद है कि क्या वाद लंबित रहने के दौरान का क्रेता अधिकारस्वरूप वाद में समाविष्ट किए जाने का अधिकारी है। इस न्यायालय ने (2005) 11 एस.सी.सी. 403 में यह धारित किया :

> "वाद लंबित रहने के दौरान, *अंतरणग्राही को अधिकारस्वरूप वाद में पक्षकार बनाए जाने का अधिकार प्राप्त नहीं होता, यद्यपि न्यायालय को उसे पक्षकार बनाने का विवेकाधिकार प्राप्त है।* तथापि, यदि वाद की विषय-वस्तु में उसका हित पर्याप्त एवं वास्तविक हो, केवल परिधीय न हो, तो वाद लंबित रहने के दौरान के अंतरणग्राही को उचित पक्षकार के रूप में जोड़ा जा सकता है। जिस सीमा तक *वाद लंबित रहने के दौरान* के अंतरणग्राही ने उत्तरदाता से हित अर्जित किया है, वह वाद में अत्यंत रुचि रखता है, विशेषतः जहाँ अंतरण उत्तरदाता के संपूर्ण हित का हो, वहाँ उत्तरदाता का संपत्ति में कोई शेष हित नहीं रह जाता और वह वाद का समुचित प्रतिवाद नहीं कर सकता। वह वादी के साथ मिलीभगत भी कर सकता है। अतः, यद्यपि वादी पर यह कोई दायित्व नहीं है कि वह वाद लंबित रहने के दौरान के अंतरणग्राही को पक्षकार बनाए, तथापि आदेश 22 नियम 10 के अधीन वाद लंबित रहने के दौरान के अंतरणग्राही को पक्षकार के रूप में जोड़ा जा सकता है। जैसा कि पूर्व में उल्लेखित किया जा चुका है, इस विषय में न्यायालय को विवेकाधिकार प्राप्त है, जिसका प्रयोग न्यायिक रूप से किया जाना चाहिए, और सामान्यतः ऐसे अंतरणग्राही को उसके हितों की रक्षा हेतु पक्षकार बनाया जाएगा। *न्यायालय ने यह भी धारित किया है कि अचल संपत्ति में हित रखने वाला वाद लंबित रहने के दौरान का अंतरणग्राही उस पक्षकार का हित-प्रतिनिधि होता है, जिससे उसने वह हित प्राप्त किया है। वह वाद अथवा अन्य कार्यवाही में, जहाँ उसका पूर्ववर्ती हितधारी पक्षकार हो, समाविष्ट किए जाने का अधिकारी है; वह मामले के गुण-दोष के आधार पर सुनवाई का अधिकारी है।"*

[जोर दिया गया]

इस न्यायालय का प्रबल मत यह है कि वाद लंबित रहने के दौरान के क्रेता द्वारा समावेशन हेतु दायर आवेदन को सामान्यतः स्वीकार किया जाना चाहिए अथवा उस पर उदारतापूर्वक विचार किया जाना चाहिए।

20. यह सिद्धांत कि न्यायालय शुल्क का प्रश्न वादी एवं न्यायालय के मध्य का विषय है, लंबे समय से अनुसरण किया जाता रहा है। मद्रास उच्च न्यायालय ने *एस.एल. लक्ष्मण अय्यर बनाम टी.एस.पी.एल.पी. पलानियप्पा चेट्टियार*, ए.आई.आर. 1935 मद्रास 927 में यह धारित किया : "प्रचलित व्यवहार के अनुसार, न्यायालय न्यायालय शुल्क से संबंधित प्रश्न पर पूर्णतः तभी विचार करता है, जब उत्तरदाता द्वारा लिखित कथन में आपत्ति उठाई जाती है; किन्तु 36 एम.एल.जे. 1437 में न्यायिक समिति यह इंगित करती है कि न्यायालय शुल्क अधिनियम प्रतिद्वंद्वी पक्षकार के विरुद्ध किसी वादी को तकनीकी हथियार प्रदान करने के उद्देश्य से अधिनियमित नहीं किया गया था, और इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि व्यवहारतः उत्तरदाता को यह आपत्ति उठाने की अनुमति है कि समुचित न्यायालय शुल्क जमा नहीं किया गया है, तथापि कठोर विधिक दृष्टि से उसे ऐसी दलील उठाने का कोई विधिक अधिकार प्राप्त नहीं है; बल्कि उसका कार्य, न्यायालय की अनुमति के अधीन, केवल न्यायालय को उचित निर्णय तक पहुँचने में सहायता करना माना जाना चाहिए।"

यद्यपि उक्त निर्णय किसी वैधानिक उपबंध का उल्लेख नहीं करता, तथापि न्यायालय शुल्क अधिनियम, 1870 की धारा 12 इस दृष्टिकोण का समर्थन करती है। उपधारा (1) मूल्यांकन से संबंधित प्रश्नों पर विचारण न्यायालय के निर्णय को अंतिम रूप प्रदान करती है :

> "(1) वादपत्र अथवा अपील ज्ञापन पर इस अध्याय के अधीन देय किसी शुल्क की राशि निर्धारित करने के प्रयोजनार्थ मूल्यांकन से संबंधित प्रत्येक प्रश्न का निर्णय उसी न्यायालय द्वारा किया जाएगा, जिसमें ऐसा वादपत्र अथवा अपील ज्ञापन, यथास्थिति, दायर किया गया है, और ऐसा निर्णय वाद के पक्षकारों के मध्य अंतिम होगा।"

तथापि, उपधारा (2) यह उपबंधित करती है कि यदि अपीलीय अथवा पुनरीक्षण न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि अधीनस्थ न्यायालय ने उक्त प्रश्न का निर्णय राजस्व के प्रतिकूल किया है, तो वह न्यायालय शुल्क की कमी की पूर्ति करने का निर्देश दे सकता है।

(2) "किन्तु जब भी ऐसा कोई वाद अपील, संदर्भ अथवा पुनरीक्षण न्यायालय के समक्ष आता है, यदि ऐसा न्यायालय यह विचार करता है कि उक्त प्रश्न का निर्णय राजस्व के प्रतिकूल गलत रूप से किया गया है, तो वह उस पक्षकार को, जिसके द्वारा ऐसा शुल्क जमा किया गया है, उतना अतिरिक्त शुल्क जमा करने हेतु निर्देश देगा, जितना उक्त प्रश्न का सही निर्णय होने पर देय होता, और धारा 10 के खंड (ii) के उपबंध लागू होंगे।"

उपधारा (1) के अधीन विचारण न्यायालय के निर्णय को प्रदत्त अंतिमता तथा इस प्रश्न की जाँच करने की अपीलीय न्यायालय की शक्ति के सीमित क्षेत्र को देखते हुए कि क्या अधीनस्थ न्यायालय ने उक्त प्रश्न का निर्णय राजस्व के प्रतिकूल गलत रूप से किया है, यह निष्कर्ष अनिवार्यतः निकलता है कि उत्तरदाता को विचारण न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध पुनरीक्षण याचिका दायर करने का कोई अधिकार प्राप्त नहीं है।

21. तथापि, मद्रास न्यायालय शुल्क अधिनियम, 1955 के अधीन स्थिति भिन्न है। धारा 12(2) उत्तरदाता को न्यायालय शुल्क के प्रश्न को उठाने का स्पष्ट अधिकार प्रदान करती है:—

> "(2) *कोई भी उत्तरदाता,* वाद की प्रथम सुनवाई से पूर्व अथवा दावे के गुण-दोष से संबंधित साक्ष्य अभिलिखित किए जाने से पूर्व, किन्तु अगली उपधारा के अधीन रहते हुए उसके पश्चात् नहीं, अपने लिखित कथन द्वारा यह *अभिवचन कर सकता है कि वाद की विषय-वस्तु का समुचित मूल्यांकन नहीं किया गया है अथवा जमा किया गया शुल्क पर्याप्त नहीं है।* ऐसे अभिवचनों से उत्पन्न सभी प्रश्नों की सुनवाई एवं निर्णय उत्तरदाता के विरुद्ध दावे के गुण-दोष से संबंधित साक्ष्य अभिलिखित किए जाने से पूर्व किया जाएगा। यदि न्यायालय यह निर्णय करता है कि वाद की विषय-वस्तु का समुचित मूल्यांकन नहीं किया गया है अथवा जमा किया गया शुल्क पर्याप्त नहीं है, तो न्यायालय ऐसी तिथि निर्धारित करेगा जिसके भीतर वादी न्यायालय के निर्णय के अनुरूप संशोधन करेगा तथा शुल्क की कमी का भुगतान किया जाएगा। "यदि वादपत्र में संशोधन नहीं किया जाता अथवा शुल्क की कमी का भुगतान निर्धारित समय के भीतर नहीं किया जाता, तो वादपत्र निरस्त कर दिया जाएगा और न्यायालय वाद की लागत के संबंध में ऐसा आदेश पारित करेगा, जिसे वह न्यायोचित समझे।"

[जोर दिया गया]

धारा 12(4)(क) यह उपबंधित करती है कि अपीलीय न्यायालय भी अधीनस्थ न्यायालय द्वारा धारा 12(2) के अधीन पारित निर्णय की शुद्धता के प्रश्न पर विचार कर सकता है, चाहे वह स्वयं संज्ञान लेकर अथवा किसी भी पक्षकार (स्पष्टतः प्रतिवादियों सहित) के आवेदन पर हो।

(4)(क) जब भी कोई मामला अपीलीय न्यायालय के समक्ष आता है, तब उस

न्यायालय के लिए यह विधिसम्मत होगा कि वह **स्वयं संज्ञान लेकर अथवा किसी भी पक्षकार के आवेदन पर** अधीनस्थ न्यायालय द्वारा वादपत्र अथवा अधीनस्थ न्यायालय की किसी अन्य कार्यवाही में देय शुल्क को प्रभावित करने वाले पारित आदेश की शुद्धता पर विचार करे तथा उस पर देय उचित शुल्क का निर्धारण करे।

> स्पष्टीकरण— कोई मामला अपीलीय न्यायालय के समक्ष आया हुआ माना जाएगा, भले ही अपील वाद की विषय-वस्तु के केवल किसी भाग से संबंधित हो।"

[जोर दिया गया]

यदि न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि अधीनस्थ न्यायालय में जमा किया गया न्यायालय शुल्क पर्याप्त नहीं है, तो न्यायालय संबंधित पक्षकार को उक्त कमी की पूर्ति करने हेतु निर्देश देगा।

> "(ख) यदि अपीलीय न्यायालय यह निर्णय करता है कि अधीनस्थ न्यायालय में जमा किया गया शुल्क पर्याप्त नहीं है, तो न्यायालय उस पक्षकार को, जो शुल्क की कमी का भुगतान करने के लिए उत्तरदायी है, ऐसी अवधि के भीतर उक्त कमी का भुगतान करने हेतु निर्देश देगा, जो न्यायालय द्वारा निर्धारित की जाए।"

तथापि, इस न्यायालय ने *रथनवर्मा राजा बनाम श्रीमती विमला*, ए.आई.आर. 1961 एस.सी. 1299 में यह धारित किया :—

> "2. *न्यायालय शुल्क अधिनियम राज्य के लाभ हेतु राजस्व संग्रह करने के उद्देश्य से अधिनियमित किया गया था, न कि किसी उत्तरदाता पक्षकार को ऐसा प्रतिरक्षात्मक अस्त्र प्रदान करने के लिए जिससे वह वाद के विचारण में अवरोध उत्पन्न कर सके।* उत्तरदाता को यह अधिकार प्रदान करके कि वह विवादित संपत्तियों के मूल्यांकन को इस प्रकार चुनौती दे सके मानो वह उसके और वादी के मध्य विवाद का प्रश्न हो, तथा उत्तरदाता द्वारा उच्च न्यायालय के समक्ष उसकी पुनरीक्षण क्षेत्राधिकार के प्रयोग हेतु दायर याचिकाओं को, वादपत्र पर देय न्यायालय शुल्क का निर्धारण करने वाले आदेश के विरुद्ध, ग्रहण करके, गुण-दोष के आधार पर विवाद के विचारण हेतु वाद की समस्त प्रगति लगभग पाँच वर्षों तक प्रभावी रूप से बाधित कर दी गई। यह समझ से परे है कि वादी द्वारा अपने वादपत्र पर पर्याप्त न्यायालय शुल्क जमा किए जाने के

प्रश्न पर उच्च न्यायालय की पुनरीक्षण क्षेत्राधिकार का आह्वान करके उत्तरदाता कौन-सी शिकायत प्रस्तुत कर सकता है। *वादपत्र पर समुचित न्यायालय शुल्क का भुगतान किया गया है या नहीं, यह मुख्यतः वादी एवं राज्य के मध्य का प्रश्न है।* वादी द्वारा जमा किए गए न्यायालय शुल्क की पर्याप्तता से संबंधित आदेश द्वारा उत्तरदाता किस प्रकार व्यथित हो सकता है, यह समझना कठिन है। पुनः, दीवानी प्रक्रिया संहिता की धारा 115 के अधीन उच्च न्यायालय द्वारा प्रयुक्त पुनरीक्षण क्षेत्राधिकार उसके खंड (क) से (ग) द्वारा कठोर रूप से परिसीमित है तथा उसका आह्वान केवल इस आधार पर किया जा सकता है कि अधीनस्थ न्यायालय ने उसमें निहित क्षेत्राधिकार का प्रयोग करने से इंकार किया है, अथवा ऐसी क्षेत्राधिकार ग्रहण कर ली है जो उसे प्राप्त नहीं थी, अथवा अपनी क्षेत्राधिकार के प्रयोग में अवैध रूप से अथवा महत्वपूर्ण अनियमितता के साथ कार्य किया है। वह उत्तरदाता जो यह मानता हो, यहाँ तक कि ईमानदारीपूर्वक यह विश्वास करता हो कि वादी द्वारा समुचित न्यायालय शुल्क जमा नहीं किया गया है, तब भी उसे वादपत्र पर देय न्यायालय शुल्क के निर्धारण संबंधी आदेश के विरुद्ध उच्चतर न्यायालयों में अपील अथवा पुनरीक्षण प्रस्तुत करने का कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। किन्तु उत्तरदाता की ओर से अधिवक्ता का कथन है कि 1955 के अधिनियम 14 द्वारा, जो वर्तमान वाद पर लागू होता है, मद्रास विधानमंडल ने उत्तरदाता को न केवल विचारण न्यायालय में इस प्रश्न को चुनौती देने का अधिकार प्रदान किया है कि वादी द्वारा पर्याप्त न्यायालय शुल्क जमा किया गया है या नहीं, बल्कि यदि न्यायालय द्वारा उसके निवेदन के प्रतिकूल कोई आदेश पारित किया जाता है, तो उच्च न्यायालय के समक्ष पुनरीक्षण प्रस्तुत करने का अधिकार भी प्रदान किया है।उक्त तर्क के समर्थन में धारा 12 की उपधारा (2) पर निर्भरता व्यक्त की गई है। उक्त उपधारा, जहाँ तक वर्तमान प्रसंग से संबंधित है, यह उपबंधित करती है :—

"3. किन्तु यह धारा केवल उत्तरदाता को वादपत्र पर देय समुचित न्यायालय शुल्क के संबंध में आपत्ति उठाने तथा उस प्रश्न पर न्यायालय को न्यायोचित निर्णय तक पहुँचने में सहायता करने में सक्षम बनाती है। हमारा ध्यान मद्रास न्यायालय शुल्क अधिनियम अथवा किसी अन्य विधि के ऐसे किसी उपबंध की ओर आकर्षित नहीं किया गया है, जो उत्तरदाता को वादपत्र पर देय न्यायालय शुल्क के प्रश्न पर प्रथम न्यायालय द्वारा पारित निर्णय के विरुद्ध उच्च न्यायालय में पुनरीक्षण प्रस्तुत करने का अधिकार प्रदान करता हो। यह सत्य है कि उक्त अधिनियम की धारा 19

यह उपबंधित करती है कि वाद अथवा अन्य कार्यवाही की विषय-वस्तु का समुचित मूल्यांकन हुआ है या नहीं अथवा जमा किया गया शुल्क पर्याप्त है या नहीं, इसका निर्णय करने के प्रयोजन से न्यायालय ऐसी जाँच कर सकता है, जिसे वह उचित समझे, तथा किसी व्यक्ति को आवश्यक स्थानीय अथवा अन्य जाँच करने एवं उस पर प्रतिवेदन प्रस्तुत करने हेतु आयोग जारी कर सकता है। विधायिका की यह चिंता कि वादकारियों से न्यायालय शुल्क प्राप्त किया जाए, अधिनियम के अध्याय 3 में किए गए विस्तृत उपबंधों से स्पष्ट है, किन्तु वे उपबंध उत्तरदाता को ऐसा तकनीकी अस्त्र प्रदान नहीं करते, जिससे वह देय न्यायालय शुल्क का निर्धारण करने वाले आदेश के विरुद्ध उच्च न्यायालय में पुनरीक्षण प्रस्तुत करके वाद की प्रगति में अवरोध उत्पन्न कर सके।"

[जोर दिया गया]

हमारे मत में उपरोक्त निष्कर्ष उपधारा (4)(ग) की भाषा से स्पष्ट रूप से समर्थित है।

"(ग) यदि शुल्क की कमी निर्धारित अवधि के भीतर जमा नहीं की जाती और उक्त त्रुटि ऐसे अनुतोष से संबंधित है, जिसे अधीनस्थ न्यायालय द्वारा निरस्त कर दिया गया हो तथा जिसके संबंध में अपीलकर्ता ने अपील की हो, तो अपील निरस्त कर दी जाएगी; किन्तु यदि उक्त त्रुटि ऐसे अनुतोष से संबंधित है, जिसके संबंध में अधीनस्थ न्यायालय द्वारा डिक्री पारित की गई हो, तो शुल्क की कमी की वसूली भूमि राजस्व के बकाये के समान की जाएगी।"

यह देखा जा सकता है कि उपधारा (ग) केवल अपील के निरस्तीकरण का उपबंध करती है, यदि न्यायालय शुल्क की कमी की पूर्ति न की जाए और उक्त कमी डिक्री के उस भाग से संबंधित हो जिसके द्वारा वादी के दावे का कोई भाग विचारण न्यायालय द्वारा निरस्त कर दिया गया हो। किन्तु जहाँ न्यायालय शुल्क की कमी की पूर्ति न किए जाने की त्रुटि उस डिक्री से संबंधित हो जो वादी के पक्ष में पारित की गई है, वहाँ उक्त धारा केवल राजस्व वसूली अधिनियम के माध्यम से राशि की वसूली का निर्देश देती है और वाद को निरस्त करने का आदेश नहीं देती। स्पष्टतः विधायिका का आशय यह नहीं था कि वादियों द्वारा अपर्याप्त न्यायालय शुल्क जमा किए जाने के आधार पर प्रतिवादियों को कोई लाभ प्रदान किया जाए

22. अतः विधि स्पष्ट है कि यद्यपि तमिलनाडु अधिनियम के अधीन उत्तरदाता को यह न्यायालय के संज्ञान में लाने का अधिकार है कि वादी द्वारा जमा किया गया न्यायालय शुल्क विधि के अनुरूप नहीं है, तथापि केवल उसी आधार पर उत्तरदाता वाद में सफल नहीं हो सकता। किन्तु द्वितीय उत्तरदाता का विवाद न्यायालय शुल्क की राशि से संबंधित नहीं है, बल्कि वाद पर लागू परिसीमा अवधि समाप्त हो जाने के पश्चात् न्यायालय शुल्क स्वीकार किए जाने से संबंधित है।

23. अगला प्रश्न, जिसकी परीक्षा किया जाना आवश्यक है, यह है कि यदि वादपत्र प्रस्तुत किए जाने के समय समुचित न्यायालय शुल्क जमा नहीं किया गया हो, तो क्या विधि की दृष्टि में उस वाद को वैध वाद माना जा सकता है। उपरोक्त से उत्पन्न एक अन्य प्रश्न यह है कि ऐसे मामले में, जहाँ वादपत्र लागू परिसीमा अवधि के भीतर प्रस्तुत किया गया हो, किन्तु समुचित न्यायालय शुल्क का भुगतान वाद दायर करने हेतु विधि द्वारा विनिर्दिष्ट परिसीमा अवधि समाप्त हो जाने के पश्चात् किया गया हो, तब ऐसे भुगतान का क्या प्रभाव होगा। उपरोक्त प्रश्न से सहायक रूप से यह प्रश्न भी उत्पन्न होता है कि क्या ऐसी स्थिति में न्यायालय द्वारा न्यायालय शुल्क की कमी का भुगतान स्वीकार किए जाने से पूर्व उत्तरदाता को सूचना दिए जाने का अधिकार है।

24. तमिलनाडु राज्य में वादों के मूल्यांकन तथा न्यायालय शुल्क के भुगतान से संबंधित विधि "तमिलनाडु न्यायालय शुल्क एवं वाद मूल्यांकन अधिनियम, 1955" है। उक्त अधिनियम की धारा 87 द्वारा "न्यायालय शुल्क अधिनियम, 1870" तथा "वाद मूल्यांकन अधिनियम, 1887" नामक दो अधिनियमों को, जो वादों के मूल्यांकन तथा न्यायालय शुल्क के भुगतान के क्षेत्र को नियंत्रित करते थे, निरसित कर दिया गया। निरसित अधिनियमों की योजना पर विस्तार से विचार करना न तो आवश्यक प्रतीत होता है और न ही उपयोगी, सिवाय इसके कि सीमित प्रयोजन हेतु कुछ ऐतिहासिक तथ्यों का संज्ञान लिया जाए।

25. तमिलनाडु अधिनियम विभिन्न प्रकार के वादों एवं अपीलों के संबंध में वादों के मूल्यांकन तथा उपयुक्त न्यायालय शुल्क के निर्धारण की विधि एवं प्रक्रिया का उपबंध करता है। उक्त अधिनियम की धारा 4 यह उपबंधित करती है कि ऐसा कोई दस्तावेज, जिस पर उक्त अधिनियम के अधीन शुल्क देय हो, तब तक किसी न्यायालय अथवा लोक कार्यालय द्वारा ग्रहण नहीं किया जाएगा, जब तक उस दस्तावेज के संबंध में अधिनियम के अधीन देय उपयुक्त शुल्क (न्यायालय शुल्क) का भुगतान न कर दिया जाए।

"4. न्यायालयों एवं लोक कार्यालयों में शुल्क की अधिरोपणा

ऐसा कोई दस्तावेज, जिस पर इस अधिनियम के अधीन शुल्क देय हो, —

(i) उच्च न्यायालय सहित किसी भी न्यायालय में दायर, प्रदर्शित अथवा अभिलिखित नहीं किया जाएगा, अथवा उस पर कोई कार्यवाही नहीं की जाएगी, और न ही वह किसी न्यायालय द्वारा स्वीकार किया जाएगा; अथवा

(ii) किसी लोक कार्यालय में दायर, प्रदर्शित अथवा अभिलिखित नहीं किया जाएगा, अथवा उस पर कोई कार्यवाही नहीं की जाएगी, और न ही वह किसी लोक पदाधिकारी द्वारा स्वीकार किया जाएगा, जब तक कि ऐसे दस्तावेज के संबंध में इस अधिनियम के अधीन प्रभार्य राशि से कम नहीं होने वाला शुल्क अदा न किया गया हो।

परंतु यह कि जहाँ किसी आपराधिक न्यायालय में ऐसे दस्तावेज का दाखिला अथवा प्रदर्शन, जिसके संबंध में समुचित शुल्क का भुगतान नहीं किया गया हो, न्यायालय की राय में न्याय के विफल होने से रोकने हेतु आवश्यक हो, वहाँ इस धारा की किसी बात को ऐसे दाखिले अथवा प्रदर्शन को निषिद्ध करने वाला नहीं माना जाएगा।"

26. धारा 5 यह उपबंधित करती है कि जब ऐसा कोई दस्तावेज, जिस पर न्यायालय शुल्क देय हो, किसी न्यायालय अथवा लोक कार्यालय में प्राप्त होता है, किन्तु उस दस्तावेज पर देय समुचित न्यायालय शुल्क का संपूर्ण अथवा कोई भाग, न्यायालय की भूल अथवा असावधानी के कारण, जमा नहीं किया गया हो, तब न्यायालय अपने विवेकाधिकार से ऐसी अवधि के भीतर, जो वह निर्धारित करे, न्यायालय शुल्क की कमी का भुगतान करने की अनुमति दे सकता है। धारा 5 आगे यह उद्घोषित करती है कि ऐसे भुगतान के उपरांत, ऐसे दस्तावेज का "वही बल एवं प्रभाव" होगा, मानो न्यायालय शुल्क का भुगतान प्रथम अवसर पर ही कर दिया गया हो। निर्विवाद रूप से, धारा 4 एवं 5 में प्रयुक्त "दस्तावेज" शब्द के अंतर्गत दीवानी प्रक्रिया संहिता (जिसे आगे "संहिता" कहा गया है) द्वारा परिकल्पित वादपत्र भी सम्मिलित है। यह उल्लेख करना प्रासंगिक होगा कि न्यायालय शुल्क अधिनियम, 1870 की धारा 28[1] के अधीन स्पष्ट रूप से यह उद्घोषित किया गया है कि "ऐसा कोई दस्तावेज, जिस पर इस अधिनियम के अधीन मुद्रांक लगाया जाना अपेक्षित हो, तब तक किसी प्रकार की वैधता नहीं रखेगा जब तक वह समुचित रूप से मुद्रांकित न हो।" तथापि, उसी धारा में यह भी उपबंधित किया गया है कि न्यायालय अपने विवेकाधिकार से समुचित न्यायालय

शुल्क के भुगतान की अनुमति दे सकता है और यदि शुल्क की कमी की पूर्ति कर दी जाती है, तो "उससे संबंधित प्रत्येक कार्यवाही उसी प्रकार वैध होगी मानो वह प्रथम अवसर पर ही समुचित रूप से मुद्रांकित की गई हो।" तमिलनाडु अधिनियम की भाषा भिन्न है। यद्यपि धारा 4 यह उद्घोषित करती है कि ऐसा कोई दस्तावेज, जिसके संबंध में अधिनियम के अधीन न्यायालय शुल्क देय है किन्तु भुगतान नहीं किया गया है, उस पर कार्यवाही नहीं की जाएगी, तथापि वह उस दस्तावेज को अवैध घोषित नहीं करती।

27. दीवानी प्रक्रिया संहिता का आदेश 7 नियम 11 यह अपेक्षा करता है कि अन्य बातों के साथ, जहाँ दावा किया गया अनुतोष कम मूल्यांकित हो अथवा वादपत्र अपर्याप्त मुद्रांकित कागज़ पर लिखा गया हो, और दोनों ही स्थितियों में वादी न्यायालय द्वारा निर्धारित समय के भीतर मूल्यांकन में संशोधन करने अथवा मुद्रांक-पत्र प्रस्तुत कर अपेक्षित न्यायालय शुल्क का भुगतान करने में विफल रहे, वहाँ वादपत्र निरस्त कर दिया जाए। नियम 13 स्पष्ट रूप से उद्घोषित करता है कि वादपत्र का निरस्तीकरण अपने आप में वादी को उसी वाद-कारण के संबंध में नया वादपत्र प्रस्तुत करने से वंचित नहीं करेगा। तथापि, संहिता की धारा 149 निम्नलिखित उपबंध करती है :—

---

1. 28. भूलवश प्राप्त मुद्रांकित दस्तावेज— ऐसा कोई दस्तावेज, जिस पर इस अधिनियम के अधीन मुद्रांक लगाया जाना अपेक्षित हो, तब तक वैध नहीं होगा जब तक वह समुचित रूप से मुद्रांकित न हो।

   किन्तु, यदि ऐसा कोई दस्तावेज भूल अथवा असावधानीवश बिना समुचित मुद्रांकन के किसी न्यायालय अथवा कार्यालय में प्राप्त, दायर अथवा प्रयुक्त कर लिया गया हो, तो न्यायालय का प्रधान न्यायाधीश अथवा कार्यालय का प्रधान अधिकारी, यथास्थिति, अथवा उच्च न्यायालय के मामले में उस न्यायालय का कोई न्यायाधीश, यह निर्देश दे सकता है कि ऐसा दस्तावेज उसके निर्देशानुसार मुद्रांकित किया जाए, और इस प्रकार मुद्रांकित किए जाने पर उक्त दस्तावेज तथा उससे संबंधित प्रत्येक कार्यवाही उसी प्रकार वैध होगी मानो वह प्रथम अवसर पर ही समुचित रूप से मुद्रांकित की गई हो।"

"149. न्यायालय शुल्क की कमी की पूर्ति करने की शक्ति

जहाँ वर्तमान में प्रवृत्त किसी विधि द्वारा किसी दस्तावेज पर देय किसी शुल्क का

> संपूर्ण अथवा कोई भाग अदा नहीं किया गया हो, वहाँ न्यायालय अपने विवेकाधिकार से किसी भी अवस्था में उस व्यक्ति को, जिसके द्वारा ऐसा शुल्क देय है, उक्त न्यायालय शुल्क का संपूर्ण अथवा यथास्थिति कोई भाग अदा करने की अनुमति दे सकता है; और ऐसे भुगतान के उपरांत वह दस्तावेज, जिसके संबंध में ऐसा शुल्क देय था, वही बल एवं प्रभाव रखेगा मानो ऐसा शुल्क प्रथम अवसर पर ही अदा कर दिया गया हो।"

धारा 149 की भाषा से यह स्पष्ट है कि यह केवल वादपत्र पर देय न्यायालय शुल्क से संबंधित नहीं है। उक्त धारा प्रत्येक ऐसे दस्तावेज से भी संबंधित है, जिसके संबंध में प्रासंगिक विधि के अधीन न्यायालय शुल्क देय है। यह भी उल्लेखनीय है कि संहिता का आदेश 8 नियम 6 एवं 6-क समायोजन एवं प्रति-दावा का उपबंध करता है। तमिलनाडु अधिनियम की धारा 8 के अधीन यह उद्घोषित किया गया है कि "समायोजन अथवा प्रति-दावा का अभिवचन करने वाला लिखित कथन उसी प्रकार शुल्कयोग्य होगा जिस प्रकार वादपत्र।" अतः, जब संहिता की धारा 149 ऐसे दस्तावेज के संबंध में प्रयुक्त होती है, जिस पर न्यायालय शुल्क देय है, तब उसके अंतर्गत केवल वादपत्र ही नहीं बल्कि अन्य ऐसे दस्तावेज भी सम्मिलित होते हैं, जिन पर प्रासंगिक विधि के अधीन न्यायालय शुल्क देय है, जिनमें वाद में लिखित कथन भी सम्मिलित हैं।

28. अतः, दीवानी प्रक्रिया संहिता की धारा 149 की भाषा से यह निष्कर्ष निकलता है कि जब कोई वादपत्र समुचित न्यायालय शुल्क का भुगतान किए बिना न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है, तब निस्संदेह न्यायालय को यह अधिकार प्राप्त है कि वह वादी को आवश्यक न्यायालय शुल्क का भुगतान करने हेतु निर्देश दे। न्यायालय की ऐसी शक्ति का प्रयोग वाद की किसी भी अवस्था में किया जा सकता है। अतः, हमारे मत में, समय व्यतीत हो जाने मात्र से न्यायालय की उस शक्ति पर कोई प्रतिबंध नहीं लगता, जिसके द्वारा वह न्यायालय शुल्क की कमी का भुगतान करने का निर्देश दे सके। तार्किक परिणामस्वरूप, केवल समय बीत जाने के कारण वादी को न्यायालय शुल्क की कमी का भुगतान करने से वंचित नहीं कहा जा सकता।

29. इस न्यायालय ने ए.आई.आर. 1971 एस.सी. 1374 — *मन्नन लाल बनाम विधिक प्रतिनिधिगण द्वारा मोसमात छोटका बीबी (मृत) एवं अन्य* में दीवानी प्रक्रिया संहिता की धारा 149 की व्याख्या करते हुए यह धारित किया :—

"अतः उपरोक्त धारा न्यायालय शुल्क अधिनियम की धारा 4 की कठोरता को शिथिल करती है तथा न्यायालय को यह विवेकाधिकार प्रदान करती है कि वह ऐसे व्यक्ति को, जिसने अपूर्ण न्यायालय शुल्क के साथ अपील ज्ञापन दायर किया हो, न्यायालय शुल्क की कमी की पूर्ति करने की अनुमति दे सके; और ऐसी कमी की पूर्ति अपील ज्ञापन में विद्यमान त्रुटि को उस तिथि से नहीं, जिस तिथि को कमी पूरी की गई, बल्कि उस तिथि से दूर कर देती है जिस तिथि को वह प्रथम बार न्यायालय में प्रस्तुत किया गया था।

हमारे मत में, उस प्रश्न पर विचार करते समय कि क्या ऐसी अपील स्वीकार्य है जिसमें प्रारंभ में न्यायालय शुल्क अपर्याप्त था किन्तु बाद में उसकी कमी पूरी कर दी गई, न्यायालय शुल्क अधिनियम तथा दीवानी प्रक्रिया संहिता के उपबंधों को एक समन्वित समग्र रूप में पढ़ा जाना चाहिए, और किसी एक अधिनियम के उपबंधों को दूसरे अधिनियम के उपबंधों पर तब तक वरीयता नहीं दी जानी चाहिए जब तक कि किसी अधिनियम के स्पष्ट शब्द दूसरे अधिनियम के उपबंधों को अधिरोहित न करते हों।"

आगे कंडिका 14 में यह भी अभिनिर्धारित किया गया :—

"हमारे मत में इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता कि न्यायालय शुल्क अधिनियम की धारा 4 इस विषय पर अंतिम शब्द नहीं है और न्यायालय को दोनों अधिनियमों तथा संहिता के उपबंधों पर विचार करके उनका सामंजस्य स्थापित करना चाहिए, जो केवल इसी प्रकार संभव है कि दीवानी प्रक्रिया संहिता की धारा 149 को न्यायालय शुल्क अधिनियम की धारा 4 के एक परिशिष्ट के रूप में पढ़ा जाए, जिससे न्यायालय द्वारा निर्धारित अवधि के भीतर शुल्क की कमी की पूर्ति की अनुमति दी जा सके। *यदि शुल्क की कमी की पूर्ति कर दी जाती है, तो परिसीमा के अवरोध के आधार पर कोई आपत्ति नहीं उठाई जा सकती; अपील ज्ञापन को परिसीमा अधिनियम द्वारा निर्धारित अवधि के भीतर दायर माना जाएगा,* बशर्ते उस अधिनियम में इसके विपरीत कोई स्पष्ट उपबंध न हो, और अपील को उस तिथि से लंबित माना जाना चाहिए जिस तिथि को अपील ज्ञापन न्यायालय में प्रस्तुत किया गया था। हमारे मत में, उसे केवल परिसीमा के प्रयोजनार्थ ही नहीं, बल्कि संहिता की धारा 149 के अधीन न्यायालय शुल्क की पर्याप्तता के प्रयोजनार्थ भी उसी तिथि से लंबित माना जाना

चाहिए जिस तिथि को वह प्रस्तुत किया गया था।"

[जोर दिया गया]

30. वह ऐसा मामला था जिसमें उत्तर प्रदेश विधानमंडल के एक अधिनियम द्वारा महारानी के दिनांक 17 मार्च, 1866 के लेटर्स पेटेंट के अधीन प्रदत्त अपीलीय क्षेत्राधिकार समाप्त कर दी गई थी। तथापि, उत्तर प्रदेश अधिनियम की धारा 3 ने लंबित लेटर्स पेटेंट अपीलों को संरक्षित रखा। न्यायालय के समक्ष प्रश्न यह था कि क्या उन्मूलन अधिनियम के प्रारंभ होने से पूर्व इलाहाबाद उच्च न्यायालय में प्रस्तुत की गई, किन्तु समुचित न्यायालय शुल्क मुद्रांक लगाए बिना दायर लेटर्स पेटेंट अपील को लंबित अपील कहा जा सकता है। इस न्यायालय ने विधि के प्रासंगिक उपबंधों तथा मद्रास उच्च न्यायालय के निर्णयों — *गवरंगा साहू बनाम बताकृष्ण पात्रो*, (1909) आई.एल.आर. 32 मद्रास 305 (एफ.बी.) तथा *फ़ैज़ुल्लाह बनाम मौलादाद*, ए.आई.आर. 1929 पी.सी. 147 — पर विचार करते हुए यह निष्कर्ष निकाला कि ऐसी अपील उन्मूलन अधिनियम के प्रयोजनार्थ 'लंबित अपील' थी।

31. यहाँ यह उल्लेख किया जा सकता है कि उपरोक्त मामले में विवाद का विषय लेटर्स पेटेंट अपील था। तथापि, मद्रास उच्च न्यायालय की पूर्णपीठ का निर्णय, जिसे इस न्यायालय द्वारा अनुमोदन सहित उद्धृत किया गया है (उपरोक्त), उस प्रश्न से संबंधित था कि क्या वाद दायर करने हेतु विनिर्दिष्ट परिसीमा अवधि समाप्त हो जाने के पश्चात् न्यायालय शुल्क की कमी का भुगतान कर देने से ऐसा वादपत्र, जो मूलतः परिसीमा अवधि के भीतर किन्तु अपूर्ण न्यायालय शुल्क के साथ प्रस्तुत किया गया था, वैध रूप से प्रस्तुत वादपत्र माना जाएगा।

> "उस मामले में न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत तर्क प्रतीत होता है कि ऐसा वादपत्र, जो परिसीमा अवधि के भीतर पर्याप्त रूप से मुद्रांकित नहीं था, वैध वादपत्र नहीं था। संदर्भ आदेश में विधि का कुछ विस्तार से उल्लेख किया गया तथा माननीय संदर्भकर्ता न्यायाधीश का मत था कि अपर्याप्त रूप से मुद्रांकित वादपत्र, शुल्क की कमी की पूर्ति कर दिए जाने पर, नया वादपत्र नहीं बन जाता। पूर्णपीठ के माननीय न्यायाधीशों ने संदर्भ आदेश में व्यक्त मत तथा उसके आधारभूत कारणों से पूर्णतः सहमति व्यक्त की और केवल यह जोड़ा कि दीवानी प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 149 भी इसी दृष्टिकोण के अनुरूप है।"

सारतः, मद्रास उच्च न्यायालय की पूर्णपीठ ने यह धारित किया कि ऐसा वादपत्र वैध रूप से प्रस्तुत वादपत्र माना जाएगा। इस न्यायालय ने उक्त निर्णय का अनुमोदन किया।

32. वादपत्र के संबंध में न्यायालय शुल्क की कमी है या नहीं, यह प्रश्न दो तत्वों पर निर्भर करता है : (1) वाद का मूल्यांकन; तथा (2) उस पर देय उपयुक्त न्यायालय शुल्क का निर्धारण। उपरोक्त दोनों में से किसी में भी त्रुटि हो सकती है (चाहे असावधानीवश अथवा अन्यथा)। तमिलनाडु अधिनियम की धारा 12(1) के अधीन (जो वर्तमान प्रयोजन के लिए प्रासंगिक है), मुख्यतः न्यायालय का यह दायित्व है कि वह समस्त प्रासंगिक सामग्री का परीक्षण कर यह निर्धारित करे कि वादपत्र पर देय समुचित शुल्क का भुगतान किया गया है अथवा नहीं। जैसा कि पूर्व में उल्लेखित किया जा चुका है, तमिलनाडु अधिनियम की धारा 12(2)[2] के अधीन, उत्तरदाता वाद के मूल्यांकन अथवा देय न्यायालय शुल्क के निर्धारण — दोनों में से किसी के संबंध में भी आपत्ति उठा सकता है। वाद के मूल्यांकन की शुद्धता अथवा उस पर देय उपयुक्त न्यायालय शुल्क का निर्धारण, उपरोक्त दोनों परिस्थितियों में, न्यायालय द्वारा किया जाना आवश्यक है। यदि न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि समुचित न्यायालय शुल्क का भुगतान नहीं किया गया है, तो धारा 12(2) से (4) में विनिर्दिष्ट परिणाम लागू होंगे।

---

2. 12. अन्य न्यायालयों में उचित शुल्क के संबंध में निर्णय।

(2) कोई भी उत्तरदाता, वाद की प्रथम सुनवाई से पूर्व अथवा दावे के गुण-दोष से संबंधित साक्ष्य अभिलिखित किए जाने से पूर्व, किन्तु अगली उपधारा के अधीन रहते हुए उसके पश्चात् नहीं, अपने लिखित कथन द्वारा यह अभिवचन कर सकता है कि वाद की विषय-वस्तु का समुचित मूल्यांकन नहीं किया गया है अथवा जमा किया गया शुल्क पर्याप्त नहीं है। ऐसे अभिवचनों से उत्पन्न सभी प्रश्नों की सुनवाई एवं निर्णय उत्तरदाता के विरुद्ध दावे के गुण-दोष से संबंधित साक्ष्य अभिलिखित किए जाने से पूर्व किया जाएगा। यदि न्यायालय यह निर्णय करता है कि वाद की विषय-वस्तु का समुचित मूल्यांकन नहीं किया गया है अथवा जमा किया गया शुल्क पर्याप्त नहीं है, तो न्यायालय ऐसी तिथि निर्धारित करेगा जिसके भीतर वादी न्यायालय के निर्णय के अनुरूप संशोधन करेगा तथा शुल्क की कमी का भुगतान किया जाएगा; और यदि निर्धारित समय के भीतर शुल्क की कमी का भुगतान नहीं किया जाता, तो वादपत्र निरस्त कर दिया जाएगा तथा न्यायालय वाद की लागत के संबंध में ऐसा आदेश पारित करेगा, जिसे वह न्यायोचित समझे।"

33. यदि ऐसा निष्कर्ष *विचारण न्यायालय* द्वारा निकाला जाता है, तो विचारण न्यायालय के लिए यह अनिवार्य है कि यदि वादी, विचारण न्यायालय द्वारा निर्देशित किए जाने के पश्चात् भी, आवश्यक न्यायालय शुल्क का भुगतान करने में विफल रहता है, तो वह वादपत्र को निरस्त कर दे — जिसका आवश्यक अर्थ यह है कि मामले के गुण-दोष के आधार पर कोई अधिनिर्णय नहीं किया जा सकता। यदि ऐसा निष्कर्ष *अपीलीय न्यायालय* द्वारा अपील की सुनवाई के दौरान निकाला जाता है, तो उसके परिणाम धारा 12(4)(सी) के अधीन विनिर्दिष्ट हैं, जिसका पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है।

34. इससे अगला प्रश्न उत्पन्न होता है कि धारा 149 का विधिक स्वरूप क्या है। क्या यह ऐसा उपबंध है जो न्यायालय को वादपत्र पर कम जमा किए गए न्यायालय शुल्क का भुगतान कराने हेतु वादी को निर्देश देने की शक्ति प्रदान करता है, अथवा क्या यह ऐसा उपबंध है जो वादी को परिसीमा विधि के उपबंधों तथा अन्य विधिक सिद्धांतों की परवाह किए बिना किसी भी समय न्यायालय शुल्क की कमी की पूर्ति करने का अधिकार प्रदान करता है।

35. हम पूर्व में यह उल्लेख कर चुके हैं कि आदेश 7 नियम 11 के अधीन ऐसा वादपत्र, जिसमें दावा किए गए अनुतोष का समुचित मूल्यांकन नहीं किया गया हो अथवा जो अपर्याप्त रूप से मुद्रांकित हो, निरस्त किए जाने के लिए उत्तरदायी है। तथापि, नियम 13 के अधीन ऐसा निरस्तीकरण अपने आप में वादी को नया वादपत्र प्रस्तुत करने से वंचित नहीं करता। इससे स्वाभाविक रूप से यह निष्कर्ष निकलता है कि किसी मामले में जहाँ वादपत्र आदेश 7 नियम 11 के अधीन निरस्त कर दिया जाता है और वादी नया वादपत्र प्रस्तुत करने का विकल्प चुनता है, वहाँ यह प्रश्न अनिवार्यतः उत्पन्न होगा कि क्या ऐसा नया वादपत्र वाद दायर करने हेतु विनिर्दिष्ट परिसीमा अवधि के भीतर है। यदि न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि ऐसा वाद परिसीमा से बाधित है, तो उसे पुनः आदेश 7 नियम 11 खंड (घ) के अधीन निरस्त किया जाना आवश्यक होगा। तथापि, दीवानी प्रक्रिया संहिता की धारा 149, जैसा कि इस न्यायालय द्वारा *मन्नन लाल* (उपरोक्त) में व्याख्यायित किया गया है, न्यायालय को यह शक्ति प्रदान करती है कि यदि वाद अन्यथा परिसीमा अवधि के भीतर दायर किया गया हो, तो वह वाद दायर करने हेतु विनिर्दिष्ट परिसीमा अवधि समाप्त हो जाने के पश्चात् भी न्यायालय शुल्क की कमी का भुगतान स्वीकार कर सके। अतः संसद द्वारा धारा 149 दीवानी प्रक्रिया संहिता अधिनियमित किए जाने के परिणामस्वरूप आदेश 7 नियम 11 दीवानी प्रक्रिया संहिता तथा तमिलनाडु अधिनियम की धारा 4 की कठोरता कुछ सीमा तक शिथिल हो जाती है। हम यह नहीं भूल सकते कि परिसीमा केवल विधि का एक उपबंध है; और विधायिका

सामान्य परिसीमा नियमों में सदैव अपवाद निर्धारित कर सकती है, जैसे परिसीमा अधिनियम की धारा 5, जो न्यायालय को अपील आदि दायर करने में हुई देरी को क्षम्य करने का अधिकार प्रदान करती है।

36. इस न्यायालय ने एकाधिक अवसरों पर यह धारित किया है कि दीवानी प्रक्रिया संहिता की धारा 149 के अधीन क्षेत्राधिकार विवेकाधीन प्रकृति की है। [देखें : *पी.के. पलानिसामी बनाम एन. अरुमुगम एवं एक अन्य,* (2009) 9 एस.सी.सी. 173 तथा (2012) 13 एस.सी.सी. 539]

37. यह विधि का सुस्थापित सिद्धांत है कि न्यायिक विवेकाधिकार का प्रयोग विधि के स्थापित सिद्धांतों के अनुरूप किया जाना आवश्यक है। इसका प्रयोग इस प्रकार नहीं किया जाना चाहिए कि वाद के किसी एक पक्षकार को अनुचित लाभ प्राप्त हो। ऐसे मामले में जहाँ वादपत्र विधि द्वारा विनिर्दिष्ट परिसीमा अवधि के भीतर, किन्तु अपूर्ण न्यायालय शुल्क के साथ दायर किया गया हो और वादी परिसीमा अवधि समाप्त होने के पश्चात् न्यायालय शुल्क की कमी को पूरा करना चाहता हो, वहाँ न्यायालय, यद्यपि दीवानी प्रक्रिया संहिता की धारा 149 के अधीन विवेकाधिकार रखता है, तथापि न्यायालय शुल्क की कमी के विलंबित भुगतान हेतु दिए गए स्पष्टीकरण का सावधानीपूर्वक परीक्षण करेगा, क्योंकि ऐसे विवेकाधिकार का प्रयोग प्रतिवादियों अथवा प्रतिवादियों के माध्यम से दावा करने वाले व्यक्तियों के अधिकारों एवं दायित्वों पर निश्चित रूप से प्रभाव डालेगा। (वर्तमान मामला ऐसी ही स्थिति का एक उत्कृष्ट उदाहरण है।) इससे अनिवार्यतः यह निष्कर्ष निकलता है कि दीवानी प्रक्रिया संहिता की धारा 149 वादी के पक्ष में ऐसा निरपेक्ष अधिकार प्रदान नहीं करती कि वह अपनी इच्छानुसार कभी भी न्यायालय शुल्क जमा कर सके। यह केवल वादी को न्यायालय से यह अनुमति प्राप्त करने में सक्षम बनाती है कि वह वादपत्र प्रस्तुत किए जाने के पश्चात् किसी बाद के समय पर न्यायालय शुल्क जमा कर सके। न्यायालय द्वारा विवेकाधिकार का प्रयोग इस बात पर सशर्त है कि न्यायालय इस स्पष्टीकरण से संतुष्ट हो कि परिसीमा अवधि के भीतर न्यायालय शुल्क जमा न करने हेतु वादी ने विधिसम्मत एवं स्वीकार्य कारण प्रस्तुत किया है।

38. वर्तमान मामले के तथ्यों के आधार पर उच्च न्यायालय ने अपना निष्कर्ष निम्न प्रकार अभिलिखित किया :—

"...... अधीनस्थ न्यायाधीश ने वादीगण की सद्भावना का परीक्षण किए बिना तथा

उत्तरदाता को सूचना दिए बिना, विवेकाधिकार का प्रयोग करते हुए आई.ए. संख्या 75 एवं 76, वर्ष 2004 को स्वीकार करके त्रुटि की है।"

ऐसा निष्कर्ष निम्नलिखित प्रतिपादन के आधार पर अभिलिखित किया गया :—

"दोनों शपथपत्रों में, जो आई.ए. संख्या 76/2004 में प्रतिनिधित्व में हुई देरी को क्षम्य करने हेतु दायर किए गए थे, *पर्याप्त कारण प्रदर्शित नहीं* किया गया; विलंब का कारण यह बताया गया कि मुद्रांक पत्र उपलब्ध नहीं थे, अतः न्यायालय शुल्क का भुगतान नहीं किया जा सका। आई.ए. संख्या 75/2004 में न्यायालय शुल्क की ऐसी कमी के संबंध में कोई कारण नहीं बताया गया है। विलंब के संबंध में केवल पीलिया (जॉन्डिस) का पारंपरिक कारण बताया गया है तथा वादीगण ने यह अभिवचन किया है कि उन्हें उक्त रोग के लिए सिद्ध उपचार दिया गया था। यहाँ तक कि उक्त शपथपत्र भी पक्षकारों द्वारा नहीं बल्कि उनके अधिवक्ताओं द्वारा दायर किए गए हैं। तथापि, ऐसे कारणों को स्वीकार करते हुए, प्रतिनिधित्व में हुई देरी तथा न्यायालय शुल्क की कमी के भुगतान — दोनों को ही अधीनस्थ न्यायालय द्वारा स्वीकार कर लिया गया।"

[जोर दिया गया]

39. उच्च न्यायालय द्वारा ग्रहण किए गए दृष्टिकोण से भिन्न मत अपनाने का हमें कोई कारण दृष्टिगोचर नहीं होता। दीवानी प्रक्रिया संहिता की धारा 149 के अधीन विवेकाधिकार का प्रयोग विचारण न्यायालय द्वारा विधि के स्थापित सिद्धांतों के अनुरूप नहीं किया गया था। अतः केवल इसी आधार पर अपील निरस्त किए जाने योग्य है। इस निष्कर्ष के दृष्टिगत, हम द्वितीय उत्तरदाता द्वारा उठाए गए अन्य प्रश्नों की परीक्षा आवश्यक नहीं समझते।

40. अपील निरस्त की जाती है।

डी.जी. अपीलें निरस्त।

खंडन (डिस्क्लेमर)- स्थानीय भाषा में निर्णय के अनुवाद का आशय, पक्षकारों को इसे अपनी भाषा में समझने के उपयोग तक ही सीमित है और अन्य प्रयोजनार्थ इसका उपयोग नहीं किया जा सकता। समस्त व्यवहारिक, कार्यालयी, न्यायिक एवं सरकारी प्रयोजनार्थ, निर्णय का अंग्रेजी संस्करण ही प्रमाणिक होगा साथ ही निष्पादन तथा कार्यान्वयन के प्रयोजनार्थ अनुमान्य होगा।